

अतीत-स्मृति

लेखक

महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक

लीडर प्रेस, प्रयाग

द्वितीयावृत्ति १०००] [मूल्य १)

प्रकाशक और मुद्रक—पं० कृष्ण राम मेहता, लीडर प्रेस,

इलाहाबाद ।

निवेदन

इस पुस्तक में संग्रहकार के १९ लेख सन्निविष्ट हैं। लेख भिन्न भिन्न समयों में लिखे गये थे और "सरस्वती" नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं। जो लेख जिस समय लिखा गया था उस समय का उल्लेख हर लेख के नीचे मिलेगा। जो लेख परस्पर मिलते-जुलते हैं, अर्थात् जिनका विषय कुछ न कुछ पारस्परिक समता रखता है, वे पास ही पास रख दिये गये हैं। इनमें से दो तीन लेख अन्य नामधारी लेखकों के भी हैं। पर उन्हें अभिन्नात्मा समझ कर संग्रहकार ने उनके लेखों को भी इस पुस्तक में स्थान दे दिया है।

इसमें जितने लेख हैं सभी का सम्बन्ध भारत की प्राचीन सभ्यता से है। इस देश का प्राचीन इतिहास यथाक्रम लिपिबद्ध नहीं हुआ। फल यह हुआ है कि हम अपने को भूल-सा गये हैं। जिस समय जगत् के अन्यान्य देश अज्ञानतमसावृत थे उस समय भारत, जातीय जीवन के अनेक अंशों में, तदपेक्षा बहुत अधिक उन्नत था। यहाँ का साहित्य उच्चश्रेणी का था; यहां की राजसत्ता का कितने ही द्वीपों और अन्य देशों में भी बोलबाला था; यहां के जहाज़ महासागरों तक का वक्षःस्थल विदीर्ण करते हुए देशान्तरों को जाते थे; यहाँ तक कि भारतवासियों ने हज़ारों

कोस दूर टापुओं तक में अपने उपनिवेश स्थापित कर दिये थे। इन सब बातों का पता पुरातत्ववेत्ता धीरे धीरे लगा रहे हैं। यह उन्हीं देशी तथा विदेशी विद्वानों की खोज का फल है जो हमने शनैः शनैः भारत के प्राचीन गौरव का अल्प-स्वल्प ज्ञान प्राप्त किया है।

इस पुस्तक में ऐसे ही लेखों का संग्रह किया गया है जिनमें भारत के प्राचीन साहित्य, प्राचीन याग-यज्ञ, प्राचीन कला-कौशल, प्राचीन ज्ञान-विज्ञान तथा प्राचीन संस्कृति की सूचक और भी कितनी ही विस्मृत बातों की झलक देखने को मिलेगी। लेखों के विषय पुराने अवश्य हैं पर वे प्रायः सभी अज्ञात, अल्पज्ञात अथवा विस्मृत से हैं। इस दशा में, आशा है, कम से कम केवल हिन्दी जानने वाले सर्व-साधारण जन तो इस संग्रह से कुछ न कुछ लाभ अवश्य ही उठा सकेंगे।

एक बात है। इस लेख-माला में जो कुछ है वह प्रायः सभी औरों की खोज और परिश्रम का फल है। लेखक ने उसे हिन्दी का रूपमात्र दे दिया है। पर यह कोई बड़े आक्षेप की बात नहीं। चम्पू-रामायण में राजा भोज ने लिखा है—

वाल्मीकिगीतरघुपुङ्गवकीर्तिलेशै—
स्तृप्तिं करोमि कथमप्यधुना बुधानाम्।
गङ्गाजलैर्भुवि भगीरथयत्नलब्धैः
किं तर्पणं न विदधाति जनः पितॄणाम्॥

अर्थात् गङ्गा जी को भगीरथ जरूर ले आये। तो क्या हम उसके जल से पितरों का तर्पण भी न करें ?

इस पुस्तक का पहला संस्करण छः सात वर्ष पूर्व निकला था। परन्तु प्रकाशक और मुद्रक दोनों की निःसीम असावधानी से वह अत्यन्त ही विकृत और विरूप दशा में प्रकट हुआ। अतएव उसका प्रकाशन व्यर्थ ही गया, समझना चाहिए। उस कृतपूर्व दोष की मार्जना के लिए, इतने समय तक ठहरने के अनन्तर, अब इसका यह दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जाता है।

दौलतपुर (रायबरेली)
१६ मार्च, १६१०

महावीरप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

अतीत-स्मृति

१—'आर्य्य' शब्द की व्युत्पत्ति

सभ्यता की उत्पत्ति क्रम क्रम से होती है, एक दम नहीं। मनुष्य सभ्यता को साथ लेकर पैदा नहीं होता। हमारे आदिम पूर्वज फल, मूल खा कर जीवन-यात्रा निर्वाह करते थे। उसके बाद मृगया-युग का आरम्भ हुआ। उस युग में मृगया-लब्ध मांस ही सब लोगों का प्रधान खाद्य था। उसके अनन्तर पशुपालन-युग लगा और पशुओं के दूध और मांस ही से उदर-पूर्ति होने लगी। सभ्यता के तीन युग इस तरह बीते। जब जन-संख्या बहुत बढ़ गई और फल, मूल, दूध और मांस से निर्वाह होना असम्भव हो गया तब सभ्यता के चौथे युग में कृषि अर्थात् खेती की उद्भावना हुई।

कृषि और कृषक को निरादर की दृष्टि से देखना मूर्खता है। इस देश में कृषि का किसी समय बड़ा आदर था। "उत्तम खेती" की कहावत इस बात का प्रमाण है। अब भी समझदार आदमी खेती को आदर की दृष्टि से देखते हैं। योरप और अमेरिका में कृषि-विद्या और कृषक का बड़ा आदर है। इन देशों में कृषि की बहुत उन्नति हुई है। मनुष्यों के प्राण अन्न ही पर अवलम्बित हैं।

बिना अन्न के विद्या-बल, बुद्धि-बल और नीति-बल एक भी काम नहीं आ सकता। अन्न न मिलने से धार्मिक आदमी भी पशुवत हो जाता है और माता भी अपने सन्तान की हत्या कर सकती है। आदमी और सब कुछ सह सकता है, पर अन्नाभाव नहीं सह सकता। पर्णकुटी में वास करके भी मनुष्य महाज्ञानी हो सकता है, किन्तु उसे यदि अन्न न मिले तो उसकी मनुष्यता शीघ्र ही उसे छोड़ भगे। इसी से संसार में कृषि और कृषि-विद्या की अपेक्षा कल्याणकर और कुछ भी नहीं है। कृषि-विद्या को अपसारित करने से हमारी सभ्यता चूर्णविचूर्ण हुए बिना न रहेगी। सामाजिक, धार्म्मिक और पारिवारिक सारे बन्धन ढीले हो जायँगे और हमें फिर मांस, दूध और फल-मूलों पर बसर करना पड़ेगा। अतएव जिन लोगों ने कृषि और कृषि-विद्या की उद्भावना की उनके हम चिरन्तन ऋणी हैं।

इस समय "आर्य्य" कहलाने में हम अपना गौरव समझते हैं। और गौरव की बात है भी जरूर। किन्तु "आर्य्य" शब्द का मूल अर्थ है "कृषक" (किसान) या "कृषक-सन्तान"। यह शब्द "ऋ" धातु से निकला है। यह धातु गत्यर्थक है। किन्तु अन्यान्य आर्य्य जातियों की भाषाओं में भी इसकी अनुरूप एक धातु है जिसका अर्थ खेती करना है। ग्रीक भाषा में "अर्-ओ" धातु, लैटिन भाषा में "अर्-ओ", गथिक भाषा में "अर्-जन," लिथूनियन भाषा में "अर्-ति" और जेन्द भाषा में "ऋर" धातु है। इन धातुओं का अर्थ खेती करना या हल से खेत जोतना है।

परन्तु संस्कृत भाषा में "अर्" धातु नहीं है। सम्भव है पुराने ज़माने में "अर्" धातु रही हो; पीछे से लुप्त हो गई हो। अथवा यह भी हो सकता है कि "ऋ" धातु ही के रूपान्तर, "अर्" (और संस्कृत व्याकरण में ऋ का अर् होता भी है) और उसका मूल अर्थ "हल चलाना" हो। यह भी सम्भव है कि हल की गति के कारण ही "ऋ" धातु का अर्थ गतिसूचक हो गया हो। "ऋ" धातु के उत्तर "यत्" प्रत्यय करने से "अर्य्य" और "ण्यत्" प्रत्यय करने से "आर्य्य" शब्द की सिद्धि होती है। विभिन्न भाषाओं के कृषि वाचक धातुओं का विचार करने से जान पड़ता है कि "अर्य्य" और "आर्य्य" दोनों शब्दों का धात्वर्थ कृषक है। इसका परोक्ष प्रमाण संस्कृत-साहित्य और व्याकरण में पाया भी जाता है। "अर्य्य" शब्द का एक अर्थ वैश्य भी है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के पहले पाद का "अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः" सूत्र इस बात का प्रमाण है। फिर पाणिनि के "इन्द्र वरुण-भव-शर्व" आदि (४-१-४९) सूत्र पर सिद्धान्त-कौमुदी में आर्य्या और आर्य्याणी शब्दों का अर्थ वैश्य-जातीय स्त्री और आर्य्य शब्द का अर्थ वैश्य-पत्नी लिखा है। फिर, वाजसनेय (१४-२८) और तैत्तिरीय संहिता (४-३-१०-१) में चारों वर्णों के नाम—ब्रह्मन्, क्षत्र, अर्य्य और शूद्र लिखे हैं।

प्राचीन वैश्यों का प्रधान काम कर्षण ही था। इन्हीं का नाम "अर्य्य" है। अतएव "आर्य्य" शब्द का आद्यर्थ कृषक कहना युक्ति-विरहित नहीं। किसी किसी का मत है कि "आर्य्य" का

अर्थ कृषक और "आर्य्य" का कृषक-सन्तान है। ऋग्वेद में ब्रह्मन् शब्द का एक अर्थ है मन्त्रकर्त्ता। इसी ब्रह्मन ही से ब्राह्मण शब्द निकला है। ब्रह्मन् अर्थात् मन्त्रकर्त्ता के पुत्र का नाम ब्राह्मण है। विश शब्द का एक अर्थ है मनुष्य। इसी विश से वैश्य शब्द की उत्पत्ति है, जिसका अर्थ है मनुष्य-सन्तान। इसी नियम के अनुसार "आर्य्य" शब्द का अर्थ "आर्य्य-पुत्र" अर्थात् कृषक-सन्तान हो सकता है। "आर्य्य" शब्द का अर्थ चाहे कृषक हो, चाहे कृषक-सन्तान हो, फल एक ही है। अतएव आदि में "आर्य्य" शब्द कृषक-वाची था।

परन्तु इसमें लज्जा की कोई बात नहीं। कोई समाज ऐसा नहीं जिसमें जीवन धारण करने के लिए मृगयासक्ति छोड़ कर कृषि करने की ज़रूरत न पड़ी हो और समाज के गौरवशाली महात्माओं ने कृषि न की हो। कोई भी नई बात करने के लिए समाज के मुखिया महात्माओं ही को अग्रगन्ता होना पड़ता है। क्योंकि ऐसा किये बिना और लोग पुराने पन्थ को छोड़ कर नये पन्थ से जाते संकोच करते हैं। अतएव जिन्होंने कृषिकार्य्य की उद्भावना पहले पहले की उनको अपने ही हाथ से हल चलाना पड़ा। यही कारण है जो उन्होंने अर्य्य या आर्य्य नाम ग्रहण किया।

वैदिक ऋषि इन्हीं कृषकों के वंशज थे। प्राचीन आर्य्यों की तरह वैदिक मन्त्रकर्त्ता ऋषि भी अपने हाथ से हल चलाते थे। इसके प्रमाण मौजूद हैं। ऋग्वेद में "कृष्टी" शब्द अनेक बार

आया है। यास्क और सायन आदि ने इस मत की पोषकता की है। इस विषय मे ऋग्वेद के दो एक मन्त्रों के भावार्थ सुनिए—

(१) हे आह्वान-योग्य इन्द्र, तुम मनुष्यों के (कृषी नाम) हव्य के पास आओ और अभिष्णु सोमपान करो। ८–३२–१९

(२) हे सोम, मानवसमूह (कृष्टयः) जिससे तुम्हारे व्रत में व्रती बने रहें। ९–८६–६७

(३) तुम मनुष्यों के धारक और उनमें समिद्ध हो (कृष्टीना धर्ता उत मध्ये समिद्धः) ५–१–६

(४) सोमपान करके सब मनुष्य (विश्वाः कृष्टयः) जिससे काम्य पदार्थ प्राप्त करते हैं उसी महान् इन्द्र की स्तुति करो। ३–४९–१

इससे सिद्ध है कि "कृष्टी" शब्द का अर्थ वेदों में मनुष्य किया गया है। जिस समाज में कृषकवाची कृष्टी शब्द से साधारण मनुष्य का बोध होता है उसमें कृषि-कार्य्य ही प्रधान व्यवसाय समझना चाहिए। परन्तु कृष्टी शब्द का अर्थ यदि आप मनुष्य न करके कृषक ही करेंगे तो आपको क़बूल करना पड़ेगा कि हमारा वेद अँगरेज़ी-पंडितों के कथनानुसार "हल जोतने वालों का गीत-समूह" है। क्योंकि पूर्वोक्त मन्त्रार्थों से प्रकट है कि वैदिक कृष्टी लोग ही यज्ञ करते थे, मन्त्र पढ़ते थे, स्तुति करते थे। ऋग्वेद में जैसे "पञ्च मानुषाः" और "पञ्च जनाः" आदि प्रयोग है वैसे ही "पञ्च कृष्टीः" भी है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋग्वेद के समय में कृषिकार्य्य ही आर्य्यों की प्रधान आजीविका थी

और कृष्टी तथा आर्य्य शब्द का धात्वर्थ कृषक होने पर भी वे असाधारण मनुष्य-अर्थ में व्यवहृत होते थे।

वैदिक समय में खेती करना नीच काम नहीं समझा जाता था। "अक्षैः मा दिव्यः। कृषिं इत कृषस्व"। अर्थात पांसा मत खेलना; खेती करना। यह ऋग्वेद के दसवें मण्डल का एक मन्त्र है। इसमें खेती करने की साफ़ आज्ञा है। यदि कृषि-कार्य्य बुरा समझा जाता तो कभी यह मंत्र वेदों में न पाया जाता। पूर्वोक्त मण्डल के १०१ सूक्त में कृषि-कार्य्य-सूचक कितनी ही बातें हैं। चौथे मण्डल के ५७ सूक्त में खेत, खेत के स्वामी, हल, हलके कूँड इत्यादि के विषय में अनेक श्रद्धापूर्ण बातें हैं, जिनसे सूचित होता है कि ऋषिजन खेती के काम को बड़ी श्रद्धा से करते थे। महाभारत में लिखा है कि आमोद-धौम्य नामक ऋषि खेती करते थे और आरुणि आदि उनके शिष्य खेत में काम करने जाया करते थे। रामायण में जनक का हल-ग्रहण सर्वश्रुत ही है। जब महाभारत और रामायण के समय में भी बड़े बड़े ऋषि और राजा कर्षण करना बुरा न समझते थे तब वैदिक युग में राजा-प्रजा, पंडित-मूर्ख सभी लोग हल-संचालन द्वारा खेती करेंगे, इसमें क्या सन्देह? हां इस समय कितने ही ब्राह्मण, क्षत्री, विशेष करके कनवजिया ब्राह्मण, हल छूना पातक समझते हैं। परन्तु अँगरेज़ों के कृपा से यदि कानपूर का कृषि-कालेज बना रहा तो कृषि-विषयक वैदिक सभ्यता का पुनरुद्धार हुए बिना न रहेगा। क्योंकि कालेज में हल चलाना भी सिखाया जाता है।

इस समय लोगों के विचार चाहे जैसे हों पर वैदिक ऋषियों ने देवताओं तक को हलग्राही लिखा है। उनको विश्वास था कि देवताओं ने ही पहले पहल कृषि-विद्या मनुष्य को सिखलाई है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल में कण्व के पुत्र सौभरि ऋषि कहते हैं—

हे अश्विद्वय, मनु की सहायता करने के लिए तुमने स्वर्ग में हल के द्वारा पहले पहल यव-कर्षण किया। ८-२२-६

एक जगह और लिखा है—

हे अश्विद्वय, तुम ने मनुष्य के लिए हल से जौ बोकर—अन्न उत्पन्न करके, और वज्र से दस्यु लोगों को दूर भगा कर, आर्य-जाति के लिए विस्तीर्ण ज्योति प्रकाशित की। १-११७-२१

इससे सिद्ध है कि प्राचीन समय में हल जोतना, बीज बोना और खेती करना बुरा नहीं समझा जाता था। सब लोग खेती में श्रद्धा रखते थे। खेती करना अप्रतिष्ठाजनक काम न था। यद्यपि "आर्य्य" और "कृष्टी" शब्दों का आद्यर्थ कृषक था तथापि ऋग्वेद के समय में वह साधारण मनुष्यों के अर्थ में व्यवहृत होने लगा था। पीछे से "आर्य्य" शब्द का विद्वान् आदि और भी अच्छे अर्थों में व्यवहार होने लगा। अतएव यह शब्द बुरे अर्थ का द्योतक नहीं। इसी तरह "हिन्दू" शब्द मुसल्मानों ने यद्यपि हम लोगों के लिए बुरे अर्थ में प्रयुक्त किया तथापि चिरकाल से हम उसे जिस अर्थ का बोधक समझते हैं वह बुरा नहीं।

[दिसम्बर १९०७

२—"हिन्दू" शब्द की व्युत्पत्ति

किसी किसी का मत है कि हिन्दू शब्द नदीवाचक सिन्धु शब्द का अपभ्रंश है और इंडस (Indus) अर्थात सिन्धु-शब्द से ही अँगरेजी-शब्द इंडिया (India) की उत्पत्ति है। किसी किसी का मत है कि अरबी हिन्द-शब्द से अँगरेजी शब्द इंडिया निकला है। कोई कोई पंडित हिन्दू-शब्द की सिद्धि संस्कृत-व्याकरण से करते हैं और कहते हैं कि वह हिंसि+दो+धातुओं से बना है और हीन अर्थात् बुरे या कुमार्गगामी लोगों को दंड या दण्ड देने वाले आर्यों का नाम है। बहुत आदमी हिन्दू-शब्द को फ़ारसी भाषा का शब्द मानते हैं और उसका अर्थ चोर, डाकू, राहजन गुलाम, काला, काफ़िर आदि करते हैं। फ़ारसी में हिन्दू-शब्द जरूर है और अर्थ भी उसका अच्छा नहीं है। इसी से इस शब्द के अर्थ की तरफ़ लोगों का इतना ध्यान गया है। सिन्धु से हिन्दू हो जाना या पुराने जमाने में हिन्दुओं को तुच्छ दृष्टि से देखने वाले मुसलमानों का, उनके लिए काफ़िर और गुलाम आदि अर्थों का वाचक शब्द प्रयोग करना, कोई विचित्र बात भी नहीं। परन्तु पंडित धर्मानन्द महाभारती न तो इन अर्थों में से किसी अर्थ को मानते हैं और न हिन्दू-शब्द की आज तक प्रसिद्ध व्युत्पत्ति ही को क़बूल करते हैं। आपने पुरानी व्युत्पत्ति और पुराने अर्थ को ग़लत साबित करके

हिन्दू-शब्द की उत्पत्ति और अर्थ एक नए ही ढंग से किया है। आप ने इस विषय पर, तीन चार वर्ष हुए, बँगला-भाषा में एक लेखमालिका निकाली थी। उसके उत्तर अंश का मतलब हम यहाँ पर, संक्षेप में, देते हैं—

फ़ारसी में हिन्दू-शब्द यद्यपि रूढ़ हो गया है तथापि वह उस भाषा का नहीं है। लोगों का यह ख्याल कि फ़ारसी का हिन्दू-शब्द संस्कृत सिन्धु-शब्द का अपभ्रंश है केवल भ्रम है। ऐसे अनेक शब्द हैं जो भिन्न भिन्न भाषाओं में एक ही रूप में पाये जाते हैं। यहाँ तक कि उनका अर्थ भी कहीं कहीं एक ही है। पर वे सब भिन्न भिन्न धातुओं से निकलते हैं। उदाहरण के लिए शिव शब्द को लीजिए। संस्कृत में उसकी साधनिका तीन धातुओं से हो सकती है। पर अर्थ सबका एकही, अर्थात् कल्याण या मङ्गल का वाचक है। यही 'शिव' शब्द यहूदी भाषा में भी है। वह अँगरेज़ी अक्षरों में "Seova" लिखा जाता है। पर उच्चारण उसका शिव होता है। वह यहूदी भाषा में 'शू' धातु से निकला है। उसका अर्थ है "लाल रंग"। यहूदियों में 'शिव' नाम का एक वीर भी हो गया है। अब, देखिए, क्या संस्कृत का 'शिव' यहूदियों के 'शिव' से भिन्न नहीं? लोग समझते हैं कि संस्कृत का "सप्ताह" और फ़ारसी का 'हफ़्ता' शब्द एकार्थवाची होने के कारण एक ही धातु से निकले हैं। यह उनका भ्रम है। हफ़्ता एक ऐसी धातु से निकला है जो संस्कृत-सप्ताह शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। फ़ारसी में से (से) स (स्वाद) स (सीन) श (शीन) ऐसे

चार वर्ण हैं जिनका उच्चारण एक दूसरे से बहुत कुछ मिलता है। अतएव सप्ताह का 'स' हफ़्ता के 'ह' में कभी नहीं बदल सकता। हफ़्ता शब्द सप्ताह का अपभ्रंश नहीं। जो कोई उसे सप्ताह का अपभ्रंश समझते हैं वे भूलते हैं।

ईसा के पांच सौ वर्ष बाद मुहम्मद का जन्म हुआ। उनके जन्म के कोई साढ़े सात सौ वर्ष बाद मुसल्मानों ने भारत में पदार्पण किया। यदि हिन्दू-शब्द मुसल्मानों का बनाया हुआ है तो उसकी उमर बारह सौ वर्ष से अधिक नहीं। परन्तु पाठकों को सुन कर आश्चर्य होगा कि हिन्दू-शब्द ईसा के जन्म से भी कई हज़ार वर्ष पहले का है। तो फिर क्या वह वेदों में है? नहीं। किसी शास्त्र में है? नहीं। जैनों या बौद्धों के पुराने ग्रंथों में है? नहीं। फिर है कहां? है वह अग्निपूजक पारसियों के धर्मग्रन्थ ज़ेन्दावस्ता में। जिन पारसियों को आज कल हिन्दू लोग, धर्म्म के सम्बन्ध में, बुरी दृष्टि से देखते हैं उन्हीं के प्राचीनतम ऋषियों और विद्वान् पंडितों ने हिन्दू-शब्द के आदिम रूप को अपने धर्म-ग्रन्थ में स्थान दिया है। वह आदिम रूप हप्तहिन्दु शब्द है। यहूदियों की धर्म-पुस्तक ओल्ड टेस्टामेंट (बाइबल के पुराने भाग) में भी हुन्दू शब्द पाया जाता है। अब देखना है कि इन दोनों ग्रन्थों में से अधिक पुराना ग्रन्थ कौन है।

क्रिश्चियन लोगों का कथन है कि बाइबिल का पुराना भाग क्राइस्ट से पांच हज़ार वर्ष पहले का है। इसमें कोई सन्देह नहीं। इसे वे पूरे तौर पर सच समझते हैं। पारसी कहते हैं—"Our

Zendavesta is as ancient as the creation ; it is as old as the Sun or the Moon" "अर्थात् धर्म्मग्रन्थ ज़ेन्दावस्ता इतना पुराना है जितनी यह सृष्टि ; वह इतना प्राचीन है जितना सूर्य्य या चन्द्रमा" । पारसियों की यह उक्ति सत्य है। इसके प्रमाण—

(१) यहूदियों का धर्म्म-शास्त्र, ओल्ड टेस्टामेंट, हिब्रू अर्थात् इब्रीय भाषा में है और पारसियों की ज़ेन्दावस्ता ज़ेन्द भाषा में। हिब्रू भाषा की अपेक्षा ज़ेन्द भाषा बहुत पुरानी है।

(२) ओल्ड टेस्टामेंट में अनेक नये नये स्थानों और जंगलों का नाम है। वे स्थान और जंगल ज़ेन्दावस्ता के समय में न थे।

(३) हाग साहेब और मिस्टर मलाबारी कहते हैं कि पुरानी पारसी जाति में मनु के आर्ष विवाह के समान सभ्य विवाह पद्धति प्रचलित न थी। परन्तु ओल्ड-टेस्टामेंट में इस ग्रन्थ के विवाह का वर्णन है। ओल्ड-टेस्टामेंट के प्रचार के पूर्ववर्त्ती समाज में जिस प्रकार की विवाह-प्रथा प्रचलित थी उसका वर्णन ज़ेन्दावस्ता में है।

(४) ज़ेन्दावस्ता में यहूदी शब्द या यहूदी जाति का नाम नहीं है, पर ओल्ड-टेस्टामेंट में कम से कम नौ दफ़े पारसी जाति का ज़िक्र है।

(५) बाइबिल में कई जगह लिखा है कि पारसियों ने यहूदियों को जीत कर बहुत काल तक उनके देश में राज किया। पर यहूदियों में किसी ने भी पारसियों को विजय नहीं किया।

(६) अग्निपूजा पृथ्वी की प्राचीन जातियों में सबसे

अधिक प्राचीन प्रथा है। ओल्ड-टेस्टामेंट के समय में अग्नि-पूजा बन्द हो गई थी ; पर जेन्दावस्ता के समय में उसका खूब प्रचार था। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि ओल्ड-टेस्टामेंट से जेन्दावस्ता पुराना ग्रन्थ है।

बँगला संवत् १३०६ के ज्येष्ठ की "भारती" नामक बँगला मासिक पत्रिका में भारती-सम्पादिका श्रीमती सरलादेवी, बी०ए०, लिखित एक प्रबन्ध छपा है। उसका नाम है "हिन्दू और निगर"। उसमें लिखा है—"हिन्दू-शब्द संस्कृत-सिन्धु-शब्द से उत्पन्न नहीं है।.........जेन्दावस्ता नामक पारसियों का पुराना धर्म्मग्रन्थ वेदों के समय का है। उसमें हिन्दू-शब्द एक दफ़े आया है। हारोबरेजेति (अल्बुर्ज) पहाड़ के पास पहले पहल ऐर्य्येन-बयेजो (आर्य-निवास) था। धीरे धीरे अहुर्मज्दाने (पारसियों के परमेश्वर ने) सोलह शहर बसाये। उनमें से पन्द्रहवें शहर का नाम हुआ "हप्तहिन्दव"। वेदों में इसी को "सप्तसिन्धव" कहते हैं। जेन्दावस्ता में तीर-इयास्से नामक एक पहाड़ के लिए भी, एक बार, 'हिन्दव' शब्द आया है। अनुमान होता है, यही 'हिन्दव' शब्द आज कल के हिन्दूकुश-पर्वत का पिता है।

"व्यवहार में न आने के कारण यह मूल अर्थ धीरे धीरे भूल गया। तब, बहुत दिनों के बाद, वैयाकरण लोगों ने "स्यन्द" धातु के आगे औणादिक "उ" प्रत्यय लगाकर, किसी तरह, तोड़ मरोड़कर, समुद्रार्थ-बोधक सिन्धु-शब्द पैदा कर दिया। यह उनकी सिर्फ़ कारीगरी मात्र है"। इत्यादि।

यह बात बिलकुल नई है। इसके पहले और किसी ने इसका पता नहीं लगाया।

इससे मालूम हुआ कि हिन्दू-शब्द यवनों की सम्पत्ति नहीं; उसे मुसलमानों ने नहीं बनाया। जेन्दावस्ता नामक अति प्राचीन और पारसियों के अति पवित्र ग्रन्थ में उसका प्रयोग सबसे पहले हुआ। जेन्दावस्ता ग्रन्थ वेदों का समसामयिक है। प्राचीन पारसी लोग अग्निहोत्री (अग्नि के उपासक) थे। आज कल के पुरातत्वज्ञ उनकी गिनती प्राचीन आर्यों में करते हैं।

अभी तक आपने हिन्दू-शब्द का सिर्फ़ अङ्कुर देखा। अब देखिए अङ्कुरोत्पन्न वृक्ष और उसके बाद वृक्षोत्पन्न फल।

यहूदियों का धर्म्मशास्त्र, ओल्ड टेस्टामेंट, ३९ भागों में बँटा हुआ है। अथवा यों कहिए कि उसमें जुदा जुदा ३९ पुस्तकें हैं। उनमें से सत्रहवीं पुस्तक का नाम है "दि बुक आफ़ एस्थर" (The Book of Esther) इसका हिब्रू नाम है आस्थुर। इसके पहले अध्याय में है—

"Now it came to pass in the days of Ahasuerus. This is Ahasuerus which reigned from India even unto Ethiopia, over an hundred and seven and twenty provinces. Esther, Chapter I. Verse I

अर्थात् अहासुरस् राजा ने इन्डिया से ईथियोपिया तक राज किया। अब इस बात का विचार करना है कि 'इन्डिया' (हिन्दोस्तान) शब्द किस अर्थ का वाचक है। याद रखिए, यहूदियों का

ओल्ड-टेस्टामेंट ग्रन्थ ईसा से पाँच हज़ार वर्ष पहले का है। वह हिब्रू भाषा में है। इसीके अँगरेजी अनुवाद में 'इंडिया' शब्द आया है। अच्छा, तो यह 'इंडिया' शब्द किस हिब्रू-शब्द का अनुवाद है। वह पूर्वोल्लिखित 'हन्दू' शब्द का भाषान्तर है। हिब्रू में 'हन्दू' शब्द का अर्थ है—विक्रम, गौरव, विभव, प्रजा-शक्ति, प्रभाव इत्यादि। यह बात ओल्ड-टेस्टामेंट में अनेक अवतरणों से साबित की जा सकती है। परन्तु उन सब प्रमाणों को देने से लेख अधिक बढ़ जायगा। इससे हम उन्हें नहीं देते। अब आज़ूर-पुस्तक से जो वाक्य ऊपर दिया गया है उसके अर्थ का विचार कीजिए—"आहासुरस् राजा ने हन्दू (शक्ति) से ईथियोपिया तक राज्य किया"। जिस तरह अंगरेजी में बहुधा गुण-वाचक शब्द का परिचय सिर्फ उसके गुणों के उल्लेख से होता है उसी तरह हिब्रू-भाषा में भी होता है। अतएव, "हन्दू से ईथियोपिया तक राज्य किया" इस वाक्य का अर्थ हुआ "हन्दू (शक्ति विशिष्ट राज्य) से लेकर ईथियोपिया तक राज किया।" जिनको इस बात पर विश्वास न हो वे डाक्टर हेग का बनाया हुआ अँगरेजी—हिब्रू-व्याकरण देखने की कृपा करें।

यहूदी लोग ग्रीक लोगों से पुराने हैं। ग्रीस में एक ऐतिहासिक लेखक हो गया है। उसका नाम था मिगास्थनीज़। उसने एक जगह लिखा है—"यहूदी लोगों ने पारसियों से ज्ञान और शिक्षा और भारतवासियों से धन और प्रभुत्व प्राप्त किया था"। यहूदियों ने भारतवर्ष में व्यापार करके बहुत धन कमाया था, यह

बात यहूदियों ने अपने ही लिखे हुए इतिहास में स्वीकार की है। इसके और भी अनेक प्रमाण ग्रोस और रोम-विषयक पुस्तकों में पाये जाते हैं। यहूदी राजा दाऊद के पुत्र सालोमन के विश्व-विख्यात मन्दिर के लिए लकड़ी, चूना, पत्थर इत्यादि मसाला हिन्दोस्तान से गया था। थराक्लूश नामक एक ग्रोक ग्रन्थकार ने लिखा है—"भारतवर्ष का विक्रम और गौरव देख कर ही यहूदी लोग इस देश को हनूदू कह कर पुकारते थे"। अब देखना है कि यहूदी लोगों ने इस हनूदू शब्द को पाया कहां से? पाया उन्होंने पारसियों की जेन्दावस्ता से। प्रमाण—

(१) यहूदियों के देश में बहुत काल तक पारसियों ने राज्य किया। उनके राज्य-काल में यहूदी अदालतों में जेन्द भाषा ही बोलते थे। वे लोग जेन्दावस्ता पढ़ते थे। इस से पारसियों के हिंदू शब्द से यहूदी जरूर परिचित रहे होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(२) यहूदियों ने जेन्दावस्ता में अनेक देशों, पर्वतों और नदियों आदि के नाम लिखे हैं। यथा

जेन्द भाषा।		हिब्रू भाषा।
तराशश् (Taurus)	...	तरश्
मोश्जा	...	मोशजा
मशक्राहा	...	मेशाया (Messiah)
कोशा	...	कोशा
अर्दुजु	...	इयारजव

हिब्रू-भाषा कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं। वह जेन्द भाषा से उत्पन्न

है। अतएव यह बात अखण्डनीय सत्य है कि जेन्द भाषा के हिन्दव शब्द ही ने हिब्रू भाषा में इन्द् रूप धारण किया। इसकी पुष्टि में अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं।

पाठक, आपने महाजनों की मुँड़िया लिपि देखी है। न देखी होगी तो उसकी विशिष्टता से आप जरूर ही वाक़िफ़ होंगे। उसमें आकार, इकार, उकार आदि की मात्रायें नहीं होतीं। इससे बाबा, बीबी, बूबू, बोबो सब एक ही तरह लिखे जाते हैं। अपेक्षित शब्द पढ़ने वाले अपनी बुद्धि से पढ़ लेते हैं। इसी कारण कभी कभी मामा की मामी, किश्ती की कुश्ती, घड़ा का घोड़ा और "अजमेर गये" का "आज मर गये" हो जाता है। हिब्रू भाषा भी ऐसी ही है। उसमें भी इकार, उकार, आदि नहीं है। वह दाहने हाथ की तरफ़ से लिखी जाती है। उसकी पुत्री अरबी और पौत्री फ़ारसी भाषा है। इन दोनों भाषाओं में जेर, जबर और पेश आदि चिन्हों के प्रयोग द्वारा वैय्याकरणों ने अकार, इकार और उकार का उच्चारण किसी प्रकार निश्चित कर लिया है। पर हिब्रू में यह बात अब तक नहीं हुई। उसकी वर्णमाला में सिर्फ़ दो ही एक स्वर हैं, सो भी अपरिस्फुट। चिन्हों के द्वारा अनेक शब्दों का उच्चारण होता है। इससे क्या होता है कि बहुत स्थलों में इकार का लोप हो जाता है। देखिए—

जेन्द।	...	हिब्रू।
किरियाद्	...	करयोयद्
शिकिना	...	सकना

हिशिया	...	अशाय:
हिज्रद	...	यजानुद
विरजोद्	...	बर्ज़ाद्

यदि हम यह कह दें कि हिब्रू में हकार है हा नहीं तो भी अत्युक्ति न होगी। जो शब्द खास हिब्रू का नहीं है उसमें पूरा इकार नहीं होता। उच्चारण में इकार होने से भी वह लिखा नहीं जाता। यथा—

हिब्रू उच्चारण	...	हिब्रू लिखावट
जिहोवा	...	जहोवा
इश्जिल	...	अब्ज़ल्
इश्राइल	...	यशूरहिल
इजाया	...	आजाया
इयाकुब	...	आकुब
मरियम	...	मरम्

अतएव जेन्द-शब्द हिन्दव का इकार यदि हिब्रू में उड़ जाय तो आश्चर्य ही क्या है? अच्छा, इकार तो यों गया; अब यह बतलाइए कि "हिन्दव" का 'व' कार कहां और किस तरह गया? सुनिए, उसका भी पता हम बतलाते हैं। हिब्रू भाषा में ल, थ, द, च, छ, ड, आदि अक्षरों का उच्चारण होने से व, फ और और य का लोप हो जाता है। प्रमाण—

हिब्रू-शब्द	उच्चारण में लोप
तोवा—	तोहा

अस्थुवा—	अस्थुहा
सन्दव—	सन्द अथवा सन्दु
गदव्—	गद्दु
दाउदव्—	दाउद
आदावो—	आदाहा

अतएव पारसियों की जेन्दावस्ता का पवित्र हिन्दव-शब्द हिब्रू भाषा में "हन्दु" हो गया। जो कुछ यहाँ तक लिखा गया उससे यह सिद्धान्त निकला कि—

(१) हिन्दू-शब्द पहले पहल जेन्दावस्ता में प्रयुक्त हुआ।

(२) पारसी लोग इस शब्द के सृष्टिकर्ता हैं।

(३) यहूदियों ने इसे अपनी भाषा में लेकर हन्दु कर दिया।

ग्रीक लोग हिन्दोस्तान से बहुत दिनों से परिचित थे। उनको इस देश से खूब अभिज्ञता थी। जिस रास्ते से ग्रीक लोग हिन्दुस्तान आते थे उस रास्ते में एक पहाड़ पड़ता था। कई कारणों से उन्हें उसके पास ठहरना पड़ता था। इस रास्ते का वर्णन उन्होंने आहासुरस् राजा की पुस्तक में पढ़ा था। बर्फ से ढकी हुई और बहुत ऊँची पर्वतमाला को रास्ते में देखकर ग्रीक लोगों ने अपने साथियों से उसका नाम पूछा। उन्होंने कहा, नाम हम नहीं जानते। पर उनके साथ एक पुरोहित भी था। उसने कहा "मैंने सुना है कि इसके एक तरफ़ हन्दु देश की सीमा है और दूसरी तरफ़ ईथियोपिया राज्य की राजनैतिक सीमा"। इसी ईथियोपिया राज्य का हिब्रू-नाम है कुश (Cush) बाइबिल (ओल्ड-टेस्टामेंट)

की पहली पुस्तक, जेनोसिस, के दूसरे अध्याय की तेरहवीं आयत में है—

"And the name of the second river is Gihon; the same it is that compasseth the whole of the Ethiopia"

जहाँ पर यह आयत है उसके किनारे टीका में लिखा है कि ईथियोपिया को यहूदी लोग कुश कहते थे। मूल हिब्रू में ईथियोपिया नहीं है; उसकी जगह कुश ही है। इसी कुश शब्द ने ग्रीक भाषा में कोश (Cosh)) रूप धारण किया। यह कोश-शब्द चेतना-विशिष्ट पुल्लिङ्ग है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कोश, ईथियोपिया राज्य का नाम है। हिब्रू-भाषा की तरह ग्रीक भाषा के व्याकरण के अनुसार भी कोश-शब्द गुणवाचक है। हिब्रू-भाषा में कुश या कोश शब्द का अर्थ सीमा भी होता है और पर्वत भी होता है। इसी कुश या कोश से 'को:', 'कोह' शब्द निकले हैं जिनका अर्थ अरबी और फारसी भाषा में पर्वत था। पुराने ज़माने में इस देश की पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश-पर्वत था। रघु के दिग्विजय में, महाभारतोक्त गान्धारी के विवाह-वर्णन में, और पुराने भूगोल में इस बात का प्रमाण मिलता है कि हिन्दूकुश के आसपास भारतीय राजों का राज्य था; पर उसके आगे न था। इन्हीं कारणों से ग्रीक लोगों ने इन्दु देश की सीमा के, अथवा इन्दु देश के सीमाज्ञापक पर्वत के, अर्थ में इस पहाड़ का नाम "इन्दु कोश" (Hand kosh) रक्खा। यह बात युक्तिसङ्गत और

सन्देह-हीन है। ग्रीक भाषा में पर्वत-शब्द पुल्लिङ्ग और चेतनावान् है। अपभ्रंश होते होते वह सनद्कोश से "इंडिकस" हो गया। यही "इंडिकस" अंगरेज़ी राज्य में इंडिया (India) हुआ। अब देखिए, ज़ेन्दावस्ता का हिन्दव हिब्रू भाषा में हुआ हनद्। हिब्रू भाषा का हनद् ग्रीक भाषा में हुआ हनद् कोश-इंडिकस। ग्रीक भाषा का इंडिकस अँगरेजी में हुआ है इंडिया।

हिन्दूकुश से अटक के किनारे तक जो लोग रहते हैं वे पश्तो भाषा बोलते हैं। ये लोग फ़ारस के आदिम निवासी हैं। फ़ारसी से उनकी भाषा बहुत मिलती है। धर्म्मान्तर ग्रहण करने के पहले ये लोग पारसियों की तरह अग्निपूजक थे। इन्हीं पश्तो बोलनेवाले भारतवासियों ने, अर्थात् ज़ेन्दावस्ता के माननेवाले अग्निसेवक पुराने पारसियों के वंशधरों ने, हनद् शब्द के आगे ह्रस्व उ प्रयोग करके, उसे 'हन्दु' के रूप में बदल दिया। पश्तो व्याकरण के अनुसार हनद् और हिन्द् शब्द के उत्तर ह्रस्व उ प्रत्यय करने से "युक्त" अर्थ होता है। उ प्रत्यय होने से हनद् अर्थात् शक्ति, गौरव, विभव, प्रभाव इत्यादि इत्यादि महिमायुक्त जाति सूचक होती है। क्योंकि पश्तो-व्याकरण के नियमानुसार उ प्रत्यय "गुणवाचक जाति या गुणवाचक पुरुष के आगे होता है"। प्राचीन आर्य्य हिन्दू-जाति के गौरव, पवित्रत्व और विभव आदि को देख कर ही पश्तो बोलने वालों ने उ प्रत्यय का प्रयोग किया था। पश्तो भाषा में हनद् और हन्दु शब्द गौरववाचक है। इसके प्रमाण में पश्तो भाषा के दो पद्य नीचे पढ़िए—

पुश्‌रो लबोदे जङ्गीर फेजोयान्।
उरो उरो नन् लाखियाल् लदे जङ्गेरे
हन्दु जेल् फाल्‌गो ॥ १ ॥
देवाट् देरन ज, जरर् उहे रम्।
क़त्‌लेबे पत्वे देश् तर् गो
हन्दु पन् सां डेरो ॥ २ ॥

इस प्रकार जेन्दावस्ता का 'हिन्दव' शब्द पश्तो में 'हुन्द' तक पहुँचा। सिक्खधर्म्म-प्रवर्तक गुरु नानक के सैनिक शिष्यों ने शुरुमुखी भाषा में उसे 'हिन्दु' कर दिया। नानक के पहले यह शब्द हिन्दव, सिन्धव, हन्दू और हुन्द तक रहा। हिन्दु-वंशावतंस सिक्खों ने अन्त में उसे "हिन्दू" के रूप में परिवर्तित कर दिया। जो लोग कहते हैं कि हिन्दू-शब्द सीमाबद्ध है वे बड़े ही भ्रान्त हैं। कहाँ फ़ारस, कहाँ यहूदी देश; कहाँ ग्रीस, कहाँ असुरस् का राज्य। सब कहीं वही प्राचीन हिन्दू नाम!

इस विवेचना से सिद्ध हुआ कि हिन्दु-शब्द का अर्थ है—विक्रमशाली, प्रभावशाली आदि। सुप्रसिद्ध फ़रासीसी लेखक जाकोलियेत (Jaquliethe) ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है—"असाधारण बल और असाधारण विद्वत्ता के कारण पूर्वकाल में भारतवर्ष पृथ्वी की सारी जातियों का आदरपात्र था।" जिस हिन्दू-जाति की साधुता, वीरता, विद्या, विभव और स्वाधीनता आदि देख कर पारसी, यहूदी, ग्रीक और रोमन लोग मोहित हो गये और मुसलमान-इतिहास लेखकों ने जिस देश को स्वर्ग-भूमि

कह कर उल्लेख किया, क्या उसी देश के रहने वाले काफ़िर, काले, ग़ुलाम, कदाकार और परस्वापहारी कहे जा सकते हैं? यह बात क्या कभी विश्वास-योग्य मानी जा सकती है? हिन्दू शब्द कदर्थ-बोधक नहीं। हिन्दू—शब्द गौरव, गरिमा, विक्रम और वीरत्व का व्यञ्जक है। तो कहिए, क्या आप अब हिन्दू—नाम छोड़ना चाहते हैं? जो ज्ञान, विज्ञान और सर्वशास्त्रीय तत्वों का आदर्श है, जो प्राणशीतलकारी ब्रह्म—विद्या का आकर है, जो विक्रम और विभव की खानि है वही पवित्र और प्रशस्त हिन्दू-नाम हमारे मस्तक की मणि है, हमारे देश का गौरव है, हमारी जाति के महत्व का व्यञ्जक है और वही इस अधःपतित, अर्द्धमृत, पदानत भारतीय आर्य्यजाति के जातीय जीवन का पुनरुद्दीपक है। हिन्दू एक ऐसा शब्द है, एक ऐसा नाम है, जिसके उच्चारण से भग्न हृदय में फिर आशा का सञ्चार हो जाता है; क्षीण देह में बल-स्रोत फिर वेग से बहने लगता है; अन्तःकरण में जातीय-गौरव का फिर अभ्युदय हो आता है; और मन में ब्रह्मानन्द का अतर्कित अनुभव होने लगता है। तब हिन्दू—नाम हम छोड़ें क्यों?

[जून १९०६

३—आदिम आर्य्य

बिलासपुर के श्रीयुक्त बी० सी० मजूमदार, बी० ए०, अच्छे पुरातत्ववेत्ता हैं। उनके लेख विद्वत्ता तथा गवेषणा-पूर्ण होते हैं। अगस्त १९१२ के "माडर्न रिव्यू" में मजूमदार महाशय का एक लेख बड़े महत्व का निकला है। उसमें उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि भारत के प्राचीन आर्य्य कहीं बाहर से नहीं आये थे; वे यहीं के निवासी थे और इसी देश के पूर्वी और दक्षिणी भागों से चल कर वे उत्तर-पश्चिमाञ्चल में जा बसे थे। अक्तूबर १९१२ के "माडर्न रिव्यू" में उनके इस कथन के कुछ अंश का खण्डन भी श्रीयुत रामचन्द्र के० प्रभू नाम के एक सज्जन ने किया है। लगभग सभी इतिहासकारों का मत है कि भारतीय आर्य्य कहीं बाहर से भारत में आये। मजूमदार महाशय इस सिद्धान्त के विरोधी हैं। हम संक्षेप में, उनकी उन युक्तियों को नीचे लिखते हैं जिनके आधार पर उन्होंने अपना पूर्वोक्त मत स्थिर किया है।

वैदिक मन्त्रों से इस बात का बिलकुल पता नहीं लगता कि उनके रचयिता आर्य्य भारतवर्ष में कहीं बाहर से आये। अध्यापक मेकडानल ने तो यहाँ तक लिखा है कि वेदों से यह बात प्रकट ही नहीं होती कि भारतीय आर्य्यों को अन्य किसी देश का कुछ भी पता था। आदिम मनुष्य-जातियां में एक यह विशेषता थी कि वे अपने प्राचीन इतिहास को न भूलती थीं। वे उसकी

रक्षा, किसी न किसी रूप में, अवश्य करती थीं। यदि यह मान लिया जाय कि आर्य्य लोग भारत में कहीं बाहर से आये तो यह बड़े ही आश्चर्य्य की बात है कि वे अपने पूर्व इतिहास को अपनी प्राचीन भूमि छोड़ने की बात को बिल्कुल ही भूल गये। अध्यापक हापकिन्स का मत है कि अधिकांश वेदमन्त्रों की रचना उन देशों में हुई थी जो पञ्जाब के पूर्व में हैं। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि प्राचीन आर्य्य, सिन्धु नदी को जिसे वे उस समय समुद्रवत् ही समझते थे, पार करके बाहर से भारत में आये ? वेदों से यह प्रकट नहीं होता कि भारतीय आर्य्यों को कभी सिन्धु पार करना पड़ा। उस काल के आरम्भ में और उससे पहले भी मध्य-एशिया का कुछ खण्ड जल के भीतर मग्न था और भारतवर्ष एक द्वीप के सदृश था। बलूचिस्तान और ब्रह्मदेश पानी में डूबे हुए थे। सिन्धु साधारण नदी की तरह नहीं, किन्तु समुद्र की तरह थी। उस समय वही जाति भारत में आने का साहस कर सकती जिसे और कहीं ठिकाना न होता और जिसके ऊपर कोई बड़ी भारी विपत्ति पड़ी होती।

यदि यह कहा जाय कि आर्य्य लोग हिमालय के किसी दर्रे से होकर आये होंगे तो यह बात भी ठीक नहीं मालूम होती। ऐसी हालत में काश्मीर उनके रास्ते में अवश्य पड़ता। अतएव ऐसे रमणीक स्थान को वे अपना उपनिवेश अवश्य बनाते। परन्तु आर्यों के जितने प्राचीन ग्रन्थ हैं उनमें काश्मीर का जिक्र तो दूर रहा, उसका नाम तक नहीं है। आर्य्य लोग पीछे से काश्मीर में

जा बसे थे; पहले उन्हें उसको कुछ भी खबर न थी। उन ग्रन्थों में जो वेदों से पीछे बने अनेक अन्यान्य देशों के नाम पाये जाते हैं। परन्तु, वेदों में भारत के बाहर का एक भी भौगोलिक नाम नहीं।

भिन्न भिन्न देशों की भिन्न भिन्न जातियों में कितने ही तद्भव और तत्सम शब्द, एक ही अर्थ में, व्यवहृत होते हैं। उन्हीं शब्दों के इतिहास के आधार पर शब्द-शास्त्र-वेत्ताओं ने यह परिणाम निकाला है कि प्राचीन काल में, आदिम आर्य्य, एकही स्थान से कितने ही जत्थों में बंट कर, पृथ्वी के अन्य भागों में फैल गये। यदि ऐसा हुआ हो तो इसमें सन्देह नहीं कि अपनी प्राचीन भूमि छोड़ने के पहले ही आर्य्य लोग बहुत कुछ सभ्य हो चुके थे, क्योंकि जिन शब्दों से शब्द-शास्त्र-वेत्ता अपना यह मत पुष्ट करते हैं उनमें से कितने ही शब्द ऊँचे दर्जे की सभ्यता के सूचक हैं। आजकल की असभ्य जातियों को भी थोड़ा बहुत दिशाओं का ज्ञान होता है। वे दिशाओं के कुछ न कुछ नाम अवश्य रख लेती हैं। इसलिए मानना पड़ेगा कि सभ्य आर्य्य-जाति ने, अपनी प्राचीन भूमि छोड़ने के पूर्व्व, दिशाओं का नाम अवश्य कुछ न कुछ रख लिया होगा। परन्तु हम देखते हैं कि बात ऐसी नहीं है। जितनी आर्य्य भाषायें, आज कल संसार में प्रचलित हैं उनमें दिशाओं के सूचक एक से शब्द नहीं। भारतीय आर्य्यों की भाषा में दिशाओं के नाम "उत्तर", "दक्षिण", "पूर्व्व" और "पश्चिम" हैं। ये चारों शब्द और किसी भाषा में नहीं पाये जाते। यदि आर्य्य लोग बाहर से भारत में आये तो यह नहीं माना जा सकता कि

उन्होंने, भारत में आने के पूर्व, दिशाओं का कुछ नाम ही न रक्खा था, या उन्होंने दिशाओं का नाम रख तो लिया था, पर भारत में आते ही उन्होंने उन नामों को बदल डाला था। मिश्र के प्राचीन निवासियों ने दिशाओं के नाम नील नदी के प्रवाह के अनुसार गढ़े थे। "ऊपरी प्रवाह" से वे उत्तर का मतलब लगाते थे और "नीचे के प्रवाह" से दक्षिण का। यदि प्राचीन आर्यों द्वारा रक्खे गये दिशाओं के नामों का पता लग जाता तो उनके पूर्वनिवासस्थल की स्थिति और उनका उसे छोड़ कर आगे बढ़ने का कुछ न कुछ पता भी अवश्य ही चल जाता।

लोगों का ख़याल है कि सूर्योदय और सूर्यास्त के हिसाब से हमारे दिशा-सूचक शब्दों की रचना हुई। पूर्व और पश्चिम, इन दोनों शब्दों से सूर्योदय और सूर्यास्त का अर्थ लिया जा सकता है। परन्तु उत्तर और दक्षिण से सूर्य्य की गति का कुछ भी संबंध नहीं। यह भी सम्भव नहीं कि आदिम काल में दिशाओं के लिए जिन शब्दों का उपयोग किया गया हो उनका दिशाओं से कोई सम्बन्ध ही न रहा हो।

'उत्तर' शब्द का अर्थ है ऊँचा। 'उत्तर' शब्द के स्थान में 'उदीच्य' शब्द का भी प्रयोग होता है। उसका भी वही अर्थ है जो 'उत्तर' का है। भारतवर्ष के उत्तर में हिमालय पर्वत है। यह बहुत ऊँचा है। आर्य्य लोग जब और जहाँ से पहिले चले होंगे, हिमालय पर्वत के नीचे अवश्य पहुँचे होंगे तो हिमालय किसी तरह उत्तर दिशा में नहीं पड़ सकता।

पुरातत्त्व-वेत्ताओं का मत है कि प्राचीन समय में, हिमालय के नीचे, उत्तर-पूर्व के कोने में, किसी सभ्य जाति की बस्ती रही होगी। यदि हम यह मान लें कि भारत के दक्षिणी भाग से कोई जाति, हिमालय के नीचे, उत्तर-पूर्व्व के कोने में, जो बसी और वहाँ उन्नति करके देश के पश्चिमी भाग में, जहाँ की भूमि बड़ी ही उर्वरा थी, जो फैली तो, हमें चारों दिशाओं के सूचक इन चारों शब्दों के अर्थ, भारत-भूमि की तत्कालीन स्थिति के अनुसार, समझने में कोई दिक्क़त नहीं पड़ती।

'दक्षिण' शब्द 'दक्ष' धातु से बना है। 'दक्ष' का अर्थ है—'बढ़ना'। उसका अर्थ 'दाहिना' भी होता है, परन्तु इस अर्थ में वह पहले व्यवहृत न होता था। वैदिक काल में एक देवता का नाम भी दक्ष था। वह अदिति का पिता था। इसलिए उसका दूसरा नाम 'आदित्य' भी था। 'आदित्य' शब्द के अर्थ हैं—निस्सीम दृग्गोचर। जो लोग हिमालय के पूर्व्व से उत्तर की ओर गये होंगे उन्हें, आगे चल कर, उक्त पर्व्वत की ऊँचाई के कारण, अवश्य रुकना पड़ा होगा। इधर दक्षिण की ओर से भी लोगों के झुण्ड के झुण्ड आते रहे होंगे। उस समय, दक्षिण ही विस्तृत दिशा रही होगी और वहाँ लोगों का निवास भी अधिक रहा होगा। इसीसे प्रत्यक्ष किंवा दृग्गोचर, परन्तु निस्सीम, विस्तार के कारण ही, उस समय उसका नाम 'आदित्य' पड़ा होगा। इसी प्रकार हिमालय की ऊँचाई के ख़याल से 'उत्तर'

की, और दक्षिण दिशा के निस्सीम विस्तार के खयाल से 'दक्षिण' शब्द की सृष्टि हुई होगी।

ग्रीक और लैटिन भाषाओं में जो शब्द 'दक्ष' से मिलते जुलते से हैं उनके वही अर्थ हैं जो, आजकल, संस्कृत में, इस शब्द के होते हैं। परन्तु संस्कृत के 'दक्षिण' और जेन्द भाषा के 'दर्शन' शब्द के वही अर्थ हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

'पूर्व्व' शब्द के अर्थ ये हैं—'पहला'—'पहले का' और 'भूत-काल' का। यह शब्द 'नूतन' शब्द का प्रतिकूलार्थवाची है। 'पूर्व्व' और 'नूतन' का प्रयोग ऋग्वेद के पहले ही सूक्त की दूसरी ही ऋक् में हुआ है। इससे इन दोनों शब्दों का अन्तर अच्छी तरह प्रकट होता है। 'पश्चिम' का अर्थ है 'पुराना'। अब यदि हिमालय के उत्तर-पूर्व में रहने वाले लोग ही भारत के उत्तरी भाग में निवास करने वाले वैदिक ऋषियों के पूर्वज रहे होंगे, तो उनका उत्तर में बस कर 'पूर्व्व' और 'पश्चिम' दिशाओं के नाम रखना सर्वथा सार्थक था।

यदि यही मान लिया जाय कि दिशाओं का नाम सूर्य्य की गति के अनुसार ही रक्खा गया होगा, तो, फिर 'उत्तर' शब्द की ठीक व्याख्या नहीं हो सकती, और, साथ ही साथ, भारतीय लोगों के निर्दिष्ट किये हुए दिशाओं के नामों से उन जातियों की दिशाओं के नामों में कोई समानता नहीं पाई जाती जिनका प्राचीन सम्बन्ध हिन्दुओं से बतलाया जाता है। कृष्णयजुर्वेद में लिखा है :—

प्राचीनवंशं करोति देवो मनुष्या दिशो व्यभजन्त ।
प्राचीं देवा दक्षिणां पितरः प्रतीचीं मनुष्या उदीचीं रुद्रः ॥

इससे प्रकट है कि प्राचीन लोग दक्षिण-दिशा ही से आगे बढ़े थे। पूर्व्व में देवताओं का वास था। वे लोग जाकर उनसे मिले। फिर जो निरे मनुष्य ही थे वे पश्चिम में सुख भोगने के लिए गये। उत्तर में भी भीषण रुद्र का राज्य था। ये सब बातें पूर्वोक्त सिद्धान्त को अच्छी तरह पुष्ट करती हैं।

ये तो हुईं मजूमदार महाशय की युक्तियां। अब उनके मत के विरोधी श्रीयुक्त रामचन्द्र के० प्रभू की बातें भी, संक्षेप में सुन लीजिए :—

मजूमदार महाशय का मत है कि भारतीय आर्य्य कहीं बाहर से नहीं आये। सबसे बड़ी दलील जो वे अपने इस मत की पुष्टि में पेश करते हैं वह यह है कि जिन अन्य देशों और जातियों से भारतीय आर्य्यों का प्राचीन सम्बन्ध बताया जाता है उनके यहां वहीं या उनसे मिलते जुलते दिशा-सूचक शब्द नहीं हैं, जो भारतीय आर्यों के हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। 'पूर्व्व' और 'दक्षिण'—इन दो शब्दों से अन्य देशों में भी उन्हीं दिशाओं से मतलब है जिनके वे भारत में बोधक हैं। पारसियों के प्राचीन ग्रन्थ अवस्ता में 'पूर्व' शब्द का अर्थ है—'पहला' अथवा 'सब से पहले'। पारसी लोग हिन्दुओं की तरह सूत्र धारण करते हैं। वे लोग सूत्र को 'कुश्ती' कहते हैं। कुश्ती के उत्सव में जन्द-अवस्ता का एक मन्त्र पढ़ा जाता है, जिसमें "यौर्व्वानीम" शब्द

आता है। विद्वान लोग इस शब्द का अर्थ 'पहला' ही करते हैं। प्राचीन पारसी भाषा में पर, परवा, परवीं, परवीज, पौर्य्य, पोर्य्येनी आदि कितने ही शब्द हैं जिनसे ताराओं का अर्थ लिया जाता है, परन्तु उन्हीं ताराओं का जो सूर्य्य-मण्डल में 'प्रथम' अर्थात् श्रेष्ठ समझे जाते हैं। संस्कृत के 'पूर्व' शब्द से इन शब्दों का घनिष्ठ सम्बन्ध मालूम पड़ता है।

मजूमदार महाशय स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'दक्षिण' का जन्द रूप 'दाशीन' है। वे यह भी मानते हैं कि लैटिन और ग्रीक भाषाओं में भी उसके सदृश और उसीके आधुनिक अर्थों के जैसे अर्थ रखने वाले शब्द मौजूद हैं। यदि ऐसा है तो, क्या यह संभव नहीं कि लैटिन और ग्रीक भाषाओं के इन शब्दों के अर्थ, प्राचीन काल में, वही रहे होंगे जो इस समय संस्कृत में थे? रोमन, ग्रीक, ड्रूड आदि योरोप की प्राचीन जातियों में प्रदक्षिणा की प्रथा जोरों पर थी। प्राचीन गैलिक भाषा में इस प्रथा को "डीजिल" और रोमन भाषा में 'डेक्सट्रेटिस' कहते थे। 'डीजिल' शब्द की धातु गीश के अर्थ हैं—'दक्षिण' तथा 'दक्षिण दिशा'। प्राचीन आयरिश शब्द 'डेस,' वेल्श शब्द 'डेही,' लैटिन शब्द 'डेक्स्ट्रा,' ग्रीक शब्द 'डेक्सियस' आदि भी इसी अर्थ के बोधक हैं। इन में संस्कृत-शब्द 'दक्षिण' का बहुत कुछ सादृश्य है और इनके अर्थ भी इसके आधुनिक अर्थ से मिलते जुलते हैं।

मजूमदार महाशय का यह कहना भी ठीक नहीं कि प्राचीन

आर्य्य दक्षिण से चल कर उत्तरी भारत में पहुंचे। उनके इस कथन का समर्थन किसी भी प्राचीन ऐतिहासिक कथा से नहीं होता। कुरु और पाञ्चाल नाम की आर्य्यजातियां उत्तरी भारत ही की थीं। उत्तर-कुरु और उत्तर-पाञ्चाल के नाम से ही पुकारी जाती थीं। उपानिषदों से यही पता चलता है कि उत्तर-कुरु-जाति का निवास हिमालय-पर्व्वत माला के उत्तर में था। ऋग्वेद में 'पूर्व्व-देव' शब्द है। जिस मन्त्र में यह शब्द आया है उसका अर्थ है—"पूर्व्वी देवों ने पाश्चात्य देवों की रीति का अनुसरण किया, जिससे वे समृद्धिशाली हो गये"। भाष्यकारों ने पूर्व्व-देव, का अर्थ 'असुर' किया है। अमर-कोश के रचयिता ने भी इस संयुक्त शब्द के यही अर्थ किये हैं। इससे स्पष्ट है कि पूर्व्व में असुरों का निवास था, जिन्होंने पश्चिमी देवों से सभ्यता सीखी। जब पूर्व्व में असुर रहते थे तब मजूमदार महाशय का यह कहना कैसे मान लिया जाय कि भारतीय आर्य्य पूर्व्व से पश्चिम की ओर गये।

सूर्य्य की गति के अनुसार ही दिशाओं के नाम रक्खे गये थे। यह बात ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त ५५, मन्त्र ३ से स्पष्ट है—

पूर्व्वामनु प्रदिश पार्थिवानामृतून् प्रशासद्विद-धावसुष्ठु।

अर्थात्—ऋतुओं की रचना करके वह (सूर्य्य) पृथ्वी की पूर्व्वादि दिशाओं को रचना करता है। अतएव मजूमदार महाशय की कल्पना समीचीन नहीं जान पड़ती।

नवंबर के माडर्न-रिव्यू में मजूमदार महोदय ने प्रभू-महा-

शय की इस खण्डनात्मक आलोचना पर एक नोट प्रकाशित कराया है। उसमें आपने प्रभू-महाशय के कांटि-क्रम का विरोध न करके केवल इतना ही लिखा है कि ईरानियों के विषय में भी आपने एक लेख लिखा है। यदि वह प्रकाशित हो जाता तो प्रभु महाशय को अपना लेख लिखने का कष्ट न उठाना पड़ता। परन्तु अस्वस्थता के कारण वे अब तक उसे प्रकाशित नहीं कर सके। आप के इस कथन से सूचित होता है कि ईरानियों के विषय में अपना मत प्रकट करके आप अपनी कल्पना का सामञ्जस्य सिद्ध करने के लिए तैयार हैं।

[जनवरी १९१३

४—आर्य्यों का आदिम-स्थान

पूना के "केसरी" नामक प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र के सम्पादक पंडित बाल गङ्गाधर तिलक, बी० ए०, एल-एल० बी० को लोग जितना उनकी विद्वत्ता के कारण जानते हैं उससे अधिक उनको उनके दुर्भाग्य के कारण जानते हैं। जब पहले पहल "केसरी" का जन्म हुआ था तभी एक मान-हानि के मुकदमे में फँसने से उनको कई महीने कारागार-वास करना पड़ा था। १८९७ ईसवी में "शिवाजी के उद्गार" शीर्षक कविता प्रकाशित करने पर उनके ऊपर जो आपत्ति आई उससे उनका नाम प्रायः सारे भारत-वर्ष भर ही में नहीं, किन्तु विलायत तक में हुआ। इस आपत्ति में कुछ अंश से उद्धार पाने में तिलक जी की विद्वत्ता ही उनको सहायक हुई। वैदिक साहित्य के वे अगाध पंडित हैं, दूसरे देशों के साहित्य में भी उनकी पारदर्शिता कम नहीं है। इस विपत्ति के पाँच सात वर्ष पहिले उन्होंने "ओरायन" (Orion or Researches in the Antiquity of the Vedas) नामक एक पुस्तक लिखी थी। ओरायन का अर्थ है "अग्रहायण"। इसमें उन्होंने वैदिक मन्त्रों की प्राचीनता का प्रतिपादन किया है और ईसा के ६००० वर्ष पहिले की बातें उन्होंने वेदों में सिद्ध की हैं। इसी पुस्तक पर लुब्ध हो कर अध्यापक मोक्षमूलर ने उनको,

जब वे पूर्वोक्त विपत्ति में पड़े थे तब, अपना सम्पादित किया हुआ ऋग्वेद भेजा और उनकी सिफ़ारिश महारानी विक्टोरिया तक से की। इसके कुछ ही दिन पीछे ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने उनको आपत्ति-मुक्त कर दिया। परन्तु तिलक महाशय के समान दुर्दैवग्रस्त शायद ही कोई दूसरा मनुष्य हो। एक के अनन्तर एक आपत्ति उनको घेरे ही रहती थी। इस समय भी वे एक वसीयतनामे के झगड़े में फँसे हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि उनकी विद्वत्ता के कारण उनको विद्वान ही विशेष जानते हैं, परन्तु दैवदुर्विपाक-जनित उनकी आपदाओं के कारण उनको सभी जानते हैं।

विद्वानों का पहिले यह अनुमान था कि ऋग्वेद के प्राचीन से प्राचीन मन्त्र कोई ३००० वर्ष से अधिक पुराने नहीं हैं। परन्तु "ओरायन" में तिलक महाशय ने यह सिद्ध कर दिखाया कि वैदिक ऋचाओं की रचना ईसा के ४,५०० वर्ष पहले और ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना ईसा के २,५०० वर्ष पहले ही हो चुकी थी। उनके मत में वेद और ब्राह्मण इससे अधिक पुराने नहीं हैं। उन्होंने लिखा है कि वैदिक काल में वासन्तिक विषुवत (वसन्त ऋतु का अहोरात्र-समत्व) अग्रहणी संक्रान्ति में हुआ करता था, परन्तु ब्राह्मण-काल में वही कृत्तिका में होने लगा था। इसी प्रमाण पर उन्होंने वेद और ब्राह्मणकाल का पूर्वोक्त अनुमान किया है। योरप और अमेरिका के विद्वानों ने पहले यह सिद्धान्त स्वीकार न किया, परन्तु उन्होंने जब विशेष गवेषणा की तब उनको भी "ओरायन" के सिद्धान्त पर विश्वास आने लगा। इसका

फल यह हुआ कि वेदों की अधिक प्राचीनता सिद्ध हुई। यहाँ तक कि अमेरिका के बोस्टन-विश्वविद्यालय के सभापति डाक्टर वारन ने एक पुस्तक* लिख कर यह अनुमान किया कि मनुष्य-जाति का आदिम निवास उत्तरी ध्रुव के आस पास था और वही हिन्दू तथा पारसियों का स्वर्ग कहलाता था।

तिलक महोदय ने "ओरायन" में जो कुछ कहा है उसकी अनुवृत्ति एक नये अँगरेजी ग्रंथ में उन्होंने की है। उसका नाम है—Arctic Home in the Vedas अर्थात् उत्तरी ध्रुव में रहने का वेदों में प्रमाण। यह अभी कुछ ही दिन हुए प्रकाशित हुआ है। इसमें जो बातें कही गई हैं उनके कुछ अंश का अनुमोदन डाक्टर वारन ने पहले ही से कर रक्खा था जैसा कि ऊपर कहा गया है। डाक्टर वारन ने यह अनुमान किया था कि आदिम आर्य्य उत्तरी ध्रुव के आस पास रहते थे और वही पीछे से स्वर्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु इस बात को सप्रमाण सिद्ध करने का पुण्य तिलक ही के भाग्य में था। यह पुस्तक तिलक की उद्भट विद्वत्ता और सुतीक्ष्ण बुद्धि का उत्कट प्रमाण है। इसको पढ़ कर बड़े बड़े विद्वानों† ने ग्रन्थकर्ता की सहस्र मुख से प्रशंसा

* Paradise found on the Cradle of the Human Race at the North Pole.

† इलाहाबाद के म्युअर सेंट्रल कालेज के प्रधान अध्यापक डाक्टर थीबो तिलक के इस सिद्धान्त को सच्चा नहीं समझते। आपने एक व्याख्यान में ऐसा ही कहा है। परन्तु जब तक डाक्टर साहब इस सिद्धान्त का प्रमाण-पूर्वक खण्डन न करें तब तक उनका कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

की है। औरों की तो बात ही नहीं "पायनियर" तक ने इसके स्तुति पाठ में अपना एक स्तम्भ खर्च किया है। पहली बार, तिलक के साथ जब उनके मित्र गोपाल गणेश आगरकर, एम० ए०, कारागार-वासी हुए थे तब उन्होंने कारागार ही में एक पुस्तक लिखी थी। सुनते हैं, तिलक ने भी यह नई पुस्तक, इस बार, जेल में आरम्भ की थी और उसकी बहुत कुछ सामग्री उन्होंने वहीं इकट्ठी की थी। वहाँ के कठिन परिश्रम के अनन्तर जो समय उनको मिलता था उसमें वे वैदिक साहित्य से प्रमाण संग्रह करते थे।

असामान्य-बुद्धि-वैभव-शाली पुरुषों की सभी लीलायें असामान्य होती हैं। बड़ी बड़ी आपत्तियों में भी उनका चित्त चञ्चल नहीं होता; उनकी बुद्धि पूर्ववत् बनी रहती है; वे ज़रा भी धैर्यच्युत नहीं होते। तिलक महाशय इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

तिलक ने अपनी इस नई पुस्तक में यह सिद्ध किया है कि आदिम आर्य्य मेरु-प्रदेश, अर्थात् उत्तरी ध्रुव, के आस पास ही रहा करते थे। इस अनुमान के सिद्ध करने के लिए उन्होंने वेदों से, पारसियों की धर्म पुस्तक अवेस्ता से, और प्राचीन ग्रीक लोगों के यहाँ प्रचलित गाथाओं से प्रमाण उद्धृत किये हैं। उनके लेखन-कौशल, उनकी प्रमाण-चयन-प्रणाली, उनकी तर्कना-पद्धति को देख कर आश्चर्य होता है। उन्होंने अपने मत को इस योग्यता से प्रतिपादित किया है कि उसे स्वीकार करने में बहुत ही कम सन्देह किया जा सकता है। किस अकाट्य युक्ति से उन्होंने

आर्य्यों का आदिम स्थान उत्तरी ध्रुव में निश्चय किया है, उसका कुछ आभास हम यहाँ पर देना चाहते हैं। परन्तु उत्तरी ध्रुव में रहने का नाम सुनते ही आश्चर्य होता है और इस बात पर विश्वास नहीं आता। जो प्रदेश सर्वथा हिमाच्छन्न, जहाँ जल और थल में कुछ भी भेद नहीं, सभी हिममय; जहाँ डाक्टर नानसेन के दृढ़ से दृढ़ जहाज़ बर्फ़ की चट्टानों से टकरा कर टूटने से बचे : वहाँ वास ! यह बिलकुल ही असम्भव जान पड़ता है; परन्तु यदि मेरु-प्रदेश में आर्य्यों का वास न माना जाय तो वेदों के अनेक मन्त्रों का ठीक ठीक अर्थ ही नहीं लग सकता। अतएव आज कल के इस बर्फ़ से ढके हुए देश में किसी समय आर्य्यों का निवास लाचार होकर मानना ही पड़ता है।

सूर्य्य की गति के हिसाब से पृथ्वी के उत्तरी गोलार्द्ध के निरक्ष-वृत्त से ६६ और ९० अंश के बीच का प्रदेश हिम-मण्डल कहलाता है। वह सदैव बर्फ़ से आच्छन्न रहता है। लापलैंड और साइबेरिया का कुछ भाग इसी मण्डल के अन्तर्गत है। इस में प्रायः लाप जाति के मनुष्य बसते हैं। इस समय वहाँ जितना शीत पड़ता है, किसी समय, इससे भी अधिक पड़ता था। यहाँ तक कि बर्फ़ की नदियाँ बड़े वेग से बह निकलती थीं और उनके प्रवाह में पड़ कर देश के देश उजाड़ होकर उनके नीचे दब जाते थे। इस हिम-प्रलय का प्रमाण वर्तमान हाथी का प्रपितामह ममोथ (Mammoth) नामक ऐरावत है। इस समय यह जीव पृथ्वी में नहीं रह गया। परन्तु साइबेरिया में इसकी

सैकड़ों अस्थि-पञ्जर बर्फ में गड़े हुए पाए गये हैं। किसी किसी ऐरावत के शरीर में मांस और चमड़ा भी पूर्ववत् पाया गया है। ये जीव हिम-प्रवाह के समय प्रवाह में पड़कर ज़मीन में गड़ गये थे। इसके सिवा भूगर्भ-विद्या के जानने वालों ने हिम-प्रलय के और भी कई प्रमाण पाये हैं। पहले प्रलय को हुए न मालूम कितने हज़ार वर्ष हुए। इसके अनन्तर और भी कई हिम-प्रलय हुए हैं। इस ऐरावत के दांतों में उसका चित्र भी खोदा हुआ मिला है। चित्र निःसंशय मनुष्य ही के द्वारा खींचा गया होगा। फिर, मिश्र देश में कोई आठ हज़ार वर्ष की पुरानी क़बरें मिली हैं। उनके भीतर से पत्थरों के हथियार, कई प्रकार के बर्तन और मनुष्यों के सकेश अस्थि-पञ्जर आदि निकले हैं। इन बातों से सिद्ध है कि जो लोग मानव-जाति की उत्पत्ति ईसा के चार ही पांच हज़ार वर्ष पहिले मानते हैं उनका मत सर्वथा अग्राह्य है। ईसा के कम से कम आठ हज़ार वर्ष पहले ही मनुष्यों की सृष्टि हो चुकी थी।

तिलक महाशय, अपनी इस नई पुस्तक में, कहते हैं कि पूर्वोक्त हिम-प्रलय के समय पुराने आर्य्य हिम-मण्डल को छोड़ कर, कुछ दक्षिण की ओर चले आये थे। वहां आने के कई हज़ार वर्ष पहले वे मेरु-सन्निहित देश (Arctic Region) अर्थात् उत्तरी ध्रुव के निकट रहते थे। उस समय उस प्रदेश में चिरकाल शरद् ऋतु रहती थी। जब शीत का आधिक्य अर्थात् हिम-प्रलय हुआ तब उन्होंने वह देश छोड़ दिया। हिम-प्रलय होने पर मेरु-प्रदेश

मानव-जाति के रहने योग्य न था। आर्य्यों के दक्षिण की ओर चले आने पर; फिर भी हिमके कई खण्ड-प्रलय हुए। इस कारण आर्य्यों को धीरे धीरे वह देश भी छोड़कर और नीचे, दक्षिण की ओर, बढ़ आना पड़ा। तिलक के मत में अन्तिम हिम-प्रलय हुए १०,००० वर्ष हुए, और कोई ६००० वर्ष ईसा के पहले आर्य्य-गण मध्य एशिया में रहने लगे थे।

श्रीमान् तिलक ने आर्य्यों के मेरु-प्रदेश में रहने का जो सिद्धान्त निकाला है उसके अब संक्षिप्त प्रमाण सुनिए—

वेदों में उत्तरी-ध्रुव सम्बन्धी जो बात हैं वे तो हैं ही, पारसियों की धर्म्मपुस्तक अवेस्ता में यह बात अधिक स्पष्टता से लिखी है कि "एरायन वायजो" (Airyana Vaojo) अर्थात् आर्य्यों का स्वर्ग-लोक एक ऐसे प्रदेश में था जहां वर्ष में एकही बार सूर्योदय होता था। इस स्वर्गलोक को बर्फ़ की वर्षा ने नाश कर दिया। इस लिए उसे छोड़कर आर्य्य लोग दक्षिण की ओर चले आये। वेद और अवेस्ता के कितने ही वचन इस बात की साक्षी देते हैं कि हिम-प्रलय के पहले मेरुप्रान्त में बहुत कम जाड़ा पड़ता था। वहां एक प्रकार का सदा बसन्त रहता था। स्पिट्ज़बर्गेन के समान स्थानों में, जहां, इस समय नवम्बर से मार्च तक, सूर्य्य क्षितिज के नीचे रहता है, उस समय ऐसे लता-पत्र और घास-पात उगते थे जो आज कल न बहुत सर्द और न बहुत गर्म जल-वायु वाले देशों ही में होते हैं। इसके सिवा खगोल-विद्या-विषयक कुछ बातें ऐसी हैं जो मेरु-प्रदेश में एक विशेष रूप में पाई जाती हैं। इन

विशेष बातों का उल्लेख यदि वेदों में मिले तो उससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाय कि वैदिक ऋषि उस प्रदेश से परिचित थे और उनके पूर्वज, किसी समय वहां रहते थे।

उत्तरी ध्रुव में आकाश-मण्डल सिर के ऊपर घूमता हुआ जान पड़ता है। यह उत्तरी ध्रुव की खगोल-सम्बन्धिनी एक विशेष बात है। उसका वर्णन वेदों में विद्यमान है। उनमें आकाश के घूमने की उपमा चक्र (पहिए) से दी गई है, और लिखा है कि यह दिव्य मण्डल मानों एक धुरी के ऊपर रक्खा हुआ घूम रहा है।

इन्द्राय गिरो अनिशित सर्गा अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात।
ये अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भपृथिवीमुत द्याम्॥
(ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त ८९, मन्त्र ४)

इसमें यह कहा गया है कि इन्द्र अपनी शक्ति से पृथ्वी और आकाश को इस प्रकार अलग अलग थामे हुए है जैसे गाड़ी के दोनों चक्रों को उसका धुरा थामे रहता है। तिलक का कथन है कि आकाश का चक्रवत् भ्रमण मेरु-प्रदेश की अवस्था का सूचक है। इस देश के संस्कृत-साहित्य में यह बात ठौर ठौर पर पाई जाती है कि देवताओं की दिन-रात छः महीने की होती है। यह बात पुराणों में भी लिखी है, महाभारत में भी है, और ज्योतिष के सिद्धान्त-ग्रन्थों में भी है। पुराने ज्योतिषियों ने मेरु-पर्वत को पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव माना है, और सूर्य्य सिद्धान्त में लिखा है—

मेरौ मेषादिचक्रार्धे देवाः पश्यन्ति भास्करम्।

अ० १२, श्लोक ६७

अर्थात् मेरु में मेषादि-चक्रार्द्धगामी सूर्य को देवता सदा देखते हैं।

यदि आर्य्यों के पूर्वज कभी उत्तरी ध्रुव में रहते थे तो उनके देवता भी निःसन्देह वहीं कहीं रहते रहे होंगे। प्राचीनों पर नवीनों की विशेष श्रद्धा होती है। इस समय हम लोग प्राचीन ऋषि-मुनियों को देवताओं से कम नहीं समझते। अतएव सर्वथा सम्भव है कि वैदिक आर्य्यों ने अपने पूर्वजों को देवता माना हो। अब मनुस्मृति का एक प्रमाण सुनिए—

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनो रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम्॥

अ० १, श्लोक ६७

अर्थात् मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं के एक दिन-रात के बराबर है। इन दोनों का फिर इस प्रकार विभाग किया गया है— सूर्य का उत्तराभिमुख-गमन दिन है और दक्षिणाभिमुख-गमन रात। महाभारत में तो सुमेरु का बहुत अच्छा और स्पष्ट वर्णन है। वनपर्व के १६३ और १६४ अध्यायों में अर्जुन के सुमेरु-पर्वत पर जाने का विस्तृत वर्णन है। वहां लिखा है—

एवं त्वहरहर्मेरुं सूर्याचन्द्रमसौ ध्रुवम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य कुरुतः कुरुनन्दन॥
ज्योतींषि चाप्यशेषेण सर्वाण्यनघ सर्वतः।
परियान्ति महाराज गिरिराज-प्रदक्षिणम्॥

अ० १६३, श्लोक ३७—३८

सूर्य्य और चन्द्रमा प्रति दिन बाईं से दाहिनी ओर को, सुमेरु की प्रदक्षिणा करते हैं; तारागण भी ऐसा ही करते हैं। थोड़ी दूर पर फिर लिखा है—

स्वतेजसा तस्य नगोत्तमस्य महौषधीनाञ्च तथा प्रभावात्।
विभक्तभावो न बभूव कश्चिदहोनिशानां पुरुषप्रवीर॥
अ० १६४, श्लोक ८

अपनी दीप्ति और महौषधियों से सुमेरु-पर्वत अन्धकार को यहां तक जीत लेता है कि रात और दिन का भेद ही नहीं रह जाता। आगे लिखा है—

× × ×

बभूव रात्रिर्दिवसश्च तेषां संवत्सरेणैव समानरूपः॥
अ, १६४०, श्लोक १२

वहाँ के रहने वालों का रात-दिन मिला कर हम लोगों का एक वर्ष होता है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि महाभारत के समय उसके रचयिता को उत्तरी-ध्रुव का ठीक ठीक ज्ञान था। सुमेरु की दीप्ति का जो उल्लेख है उससे, बहुत करके, मेरुज्योति (Aurora Borealis) से अभिप्राय है। यह ज्योतिर्माला उत्तरी ध्रुव ही में देख पड़ती है। ये बातें ऐसी हैं जो ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धिनी गणना, अर्थात् गणित, द्वारा नहीं जानी गई होंगी, क्योंकि उस समय ज्योतिष-विद्या की इतनी उन्नति नहीं हुई थी। बिना आँख से देखे, अथवा जिसने देखा है उससे सुने, इनका इतना विशुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण में तो स्पष्ट लिखा है कि

जिसे हम वर्ष कहते हैं वह देवताओं का एक दिन है, (३, ९, २२, १) पारसियों की अवेस्ता में भी ठीक एक ऐसी ही उक्ति है।

उत्तरी ध्रुव में चैत्र से भादों तक अविराम दिन रहता है, और आश्विन से फाल्गुन तक अविराम रात रहती है। यह ९० अक्षांश की बात है। वहां रात के आरम्भ और अन्त में, ५२ दिन तक, बराबर उषःकाल रहता है। ८९ अक्षांश से नीचे के भू-भाग में क्रम क्रम से इस परिणाम में अन्तर पड़ता जाता है। यहां पर यह शंका हो सकती है कि जहां ६ महीने रात रहती है वहां मनुष्य कैसे रह सकता है। इसका समाधान बहुत सरल है। पहले तो ऐसे स्थानों में, चार महीने के लगभग, तड़का (उषःकाल) रहता है। गरमियों में पांच बजे प्रातःकाल और सात बजे सायंकाल जितना उजियाला रहता है उतना ही वहां रहता है। अतएव कोई सांसारिक काम, उस समय, रुक नहीं सकता। फिर जो दो महीने रात रहती है उसमें मेरु-ज्योति का बहुत ही मनोमोहिक प्रकाश होता है। मेरु-प्रदेश में भ्रमण करने वाले डाक्टर नान्सेन ने मेरु-ज्योति (Aurora Borealis) का बड़ा ही विलक्षण वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि "उसकी शोभा और आभा का वर्णन शब्दों द्वारा किया जाना सर्वथा असम्भव है। वह अन्तर्हित प्रकाशपुञ्ज है। बिना देखे उसकी सुन्दरता का अनुमान मनुष्य को स्वप्न में भी नहीं हो सकता। वह आकाश में नृत्य सा किया करती है। वह कभी कभी तेजोमय सूर्याकृति धारण करके सिर के ऊपर भांति भांति के खेल से करती है।" अतएव, रात

में जहाँ ऐसा अलौकिक प्रकाश होता है उस देश को मनुष्य-निवास के सर्वथा योग्य समझना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं। डाक्टर नान्‌सेन के अनुसार तो मेरु-प्रदेश के समान रमणीय और देश ही नहीं। फिर जिस समय आर्यगण वहां रहते थे उस समय वहां उतना शीत न पड़ता था। शीत कुछ था अवश्य, परन्तु वसन्त ऋतु का सा था। शीत ही के कारण, अनुमान होता है, प्राचीन आर्य हवन करने लगे थे। उनके अग्निहोत्री और हवन-प्रिय होने का यही कारण जान पड़ता है। दीपदान इत्यादि की प्रथा भी इसी कारण से प्रचलित हुई जान पड़ती है। दीपक का उपयोग रात ही में होता है। दिन में किसी देवता को दीप दिखलाना और न दिखलाना बराबर है।

प्रति वर्ष विषुव-वृत्त से उत्तर २४ अंश और दक्षिण भी उतने ही अंश तक सूर्य का आवागमन होता है। वैदिक काल में जब सूर्य विषुव-वृत्त से उत्तर को जाता था तब उसे उत्तरायण संज्ञा प्राप्त होती थी; और जब वह उस वृत्त से दक्षिण को गमन करता था तब वह दक्षिणायन कहलाता था। उसी उत्तरायण का नाम वेदों में देवयान और दक्षिणायन का पितृयान है। इस देवयान और पितृयान का ऋग्वेद-संहिता में अनेक बार उल्लेख आया है। एक उदाहरण लीजिए—

प्र-मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतास :
अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात्प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः ॥

मंड० ७, सूक्त ७६, मंत्र २।

अर्थात् देवयान-मार्ग हमको देख पड़ने लगा ; उषा का केतु (पताका) पूर्व दिशा में उदित हो गया। देवयान का उलटा पितृयान है; उसका भी उल्लेख ऋग्वेद में है, यथा :—

परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्

मण्डल १० सूक्त १८, मन्त्र १

इसमें " देवयानात् इतरः " इन शब्दों से पितृयान अर्थ लिया गया है; क्योंकि देवयान का उल्टा पितृयान ही हो सकता है। यहां पर पितृयान मृत्यु का मार्ग माना गया है। जब देवयान का आरम्भ उषा अर्थात् प्रातःकाल से होता था, तब पितृयान का आरम्भ सायङ्काल से होना ही चाहिए। इसलिए तिलक महाशय का अनुमान है कि देवयान से वैदिक ऋषियों का आशय दिन और पितृयान से रात का था। इन दो भागों में, उस समय, वर्ष विभक्त था। यह लक्षण मेरु-प्रदेश में तब भी पाया जाता था और अब भी पाया जाता है। पारसियों के धर्म-ग्रंथ में भी यही बात लिखी है। वहाँ उसका और भी स्पष्ट वर्णन है। लिखा है कि " जिसको वर्ष कहते हैं उसको वे लोग एक दिन मानते हैं। वहां पर चन्द्र, सूर्य्य आदि वर्ष में एकही बार उदित और अस्त होते हैं और एक दिन एक वर्ष के समान जान पड़ता है।" इससे अधिक स्पष्ट मेरु-प्रदेश का वर्णन और क्या होगा ? दक्षिणायन सूर्य ही का नाम पितृ-यान है। पितृयान में मरना अशुभ माना गया है। इस लिए भीष्म शरशय्या पर बहुत दिन तक पड़े पड़े, मरने के लिए,

देवयान की प्रतीक्षा करते रहे। पितृयान में बराबर ६ महीने तक रात रहती थी। रात में मृतकों का दाह-कार्य अच्छी तरह नहीं हो सकता। इसीलिए इस काल में मरना बुरा माना गया है। इससे हजारों वर्ष की पुरानी रूढ़ि का चिन्ह, अब तक, इस देश में विद्यमान है। अब यहां यद्यपि केवल १२ घण्टे की रात होती है, तथापि रात में चिता दाह नहीं होता। यह रीति उसी प्राचीन वैदिक रीति की सूचक है।

वैदिक साहित्य में लम्बी उषाओं का भी वर्णन है। जैसे पहले हम एक जगह लिख आए हैं, उत्तरी ध्रुव में लगभग दो महीने तक उषा अर्थात प्रातःकाल रहता है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि "गवामयनम्" सत्र में होता (हवन करने वाला) उषःकाल रहते रहते, एक हजार ऋक् पाठ करता था। आश्वलायन और आपस्तम्ब ने तो यहां तक कहा है कि सूर्योदय के पहले ही वे ऋग्वेद के समग्र दश मण्डलों की आवृत्ति करेंगे। इससे सिद्ध है कि उस समय बहुत देर में सूर्योदय होता था। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ७६वें सूक्त के अन्तर्गत तीसरे मन्त्र में लिखा है "सूर्योदय के पहले बहुत दिन थे; उन दिनों में हे उषा, तुम सूर्य की ओर जाती थी"। यहां पर देखिए, बहुत काल-व्यापिनी उषा का स्पष्ट उल्लेख है। ऐसी उषा केवल उत्तरी ध्रुव में होती है; अन्यत्र नहीं।

जैसे प्रमाण ऊपर दिये गये हैं वैसे अनेक प्रमाण तिलक ने अपने अपूर्व-पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ में दिये हैं। वेदों से, ब्राह्मणों से, पुराणों से, ज्योतिष के सिद्धान्त-ग्रन्थों से, पारसियों के धर्म-ग्रन्थ

से और ग्रीक लोगों की प्राचीन गाथाओं से उन्होंने ऐसे अनेक वचन उद्धृत किये हैं जिनसे निर्विवाद सूचित होता है कि किसी समय हम लोगों के पूर्वज मेरु-प्रदेश में रहते थे। यही नहीं, भूगर्भविद्या के अखण्डनीय सिद्धान्तों द्वारा उन्होंने यह भी प्रायः सिद्ध कर दिया है कि मानवसृष्टि का आरम्भ हुए अनन्त काल व्यतीत हुआ। पहले हिम-प्रलय के पूर्व्व प्राचीन आर्य्य उत्तरीय ध्रुव के ठीक आस पास रहते थे और अन्तिम खण्ड-प्रलय हुए कोई १०००० वर्ष हुए।

यहां पर एक शङ्का होती है कि यदि आदिम आर्य्य मेरु-प्रदेश में रहते थे; और वेदों में जो आकाश-मण्डल, चन्द्र-सूर्य, दिन-रात और उषा आदि का वर्णन है वह यदि उसी प्रदेश का है, तो उन्होंने वेदों में कहीं इस बात का उल्लेख क्यों नहीं किया। विचार करने का विषय है कि हम लोगों को जब सौ पचास वर्ष की बात स्मरण नहीं रहती; जब हम, इस समय भी इतिहास की बड़ी बड़ी घटनाओं को भूल जाते हैं, जब हम अपने पूर्वजों के नाम तक कभी कभी नहीं बतला सकते, तब यदि हज़ारों वर्ष पहले के अपने निवास स्थान को आर्य भूल जायँ तो क्या आश्चर्य्य है? फिर, वे एक प्रकार से भूले भी नहीं। वंशपरम्परा से जो कुछ उन्होंने सुन रक्खा था उसे उन्होंने वैदिक साहित्य में सन्निविष्ट भी कर दिया। देवरूपी अपने पूर्वजों के दिन-रात और सायं प्रातः आदि का थोड़ा बहुत वर्णन करने में वे नहीं चूके।

हज़ारों वर्ष से हम लोग वेदाध्ययन करते आये हैं; परन्तु उनके अध्ययन द्वारा आर्य्यों के आदिम स्थान का पता, आज तक, कोई

नहीं लगा सका। उसका श्रेय तिलक के लिये था; वह उनको आज प्राप्त हुआ। यदि इस बात का प्रमाणकर्त्ता कोई विलायती पंडित होता तो उसकी कीर्ति न जाने कहां कहां अब तक फैल गई होती। माननीय तिलक इस अर्द्धशिक्षित भारत के वासी हैं; इसलिए उनका यश उतना शीघ्र न प्रसारित होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने अपनी तीव्र बुद्धि और गम्भीर गवेषणा से एक महत्त्व-पूर्ण ऐतिहासिक तत्व का पता लगाया है। जो कोई उनके ग्रन्थ को पढ़ेगा वह अवश्य उनकी प्रशंसा करेगा। उनकी पुस्तक को पढ़ कर और उनके प्रकाण्ड परिश्रम का विचार करके, पढ़ने वाले के मन में एक अपूर्व भक्ति-भाव उदित होता है। ऐसे अनेक वैदिक मन्त्र हैं जिनका आशय ठीक ठीक समझ में नहीं आता। परन्तु तिलक महोदय के मत का प्रचार होने पर, उनकी पुस्तक से सम्बन्ध रखने वाले उन मन्त्रों का भाव सहज ही में स्पष्ट हो जायगा। पुस्तक-कर्त्ता ने इस पुस्तक के लिए बहुत कुछ सामग्री कारागार ही में एकत्रित कर ली थी। यह उनके लिये और भी प्रशंसा की बात है। एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ जो उनको राज-दण्ड मिला। यदि ऐसा न होता तो इस अज्ञातपूर्व वैदिक तत्व का उद्घाटन भी न होता। खेद की बात है कि ऐसा प्रकाण्ड पंडित, ऐसा वैदिक-तत्व दर्शी, ऐसा श्रमसहिष्णु, ऐसा गवेषणा-धुरन्धर विद्वान इस तरह विपत्ति जाल में फँसता रहे!

[मार्च १९०४

५—प्राचीन मिश्र में हिन्दुओं की आबादी

बहुत लोगों का खयाल है कि प्राचीन काल के हिन्दू कूप-मण्डूकवत् रहना बहुत पसंद करते थे। अर्थात् वे अपना घर छोड़ कर दूसरे देशों को जाने के बड़े विरोधी थे। पर यह खयाल भ्रम-मूलक है। न्यूयार्क, अमेरिका, के ए० डी० मार साहब ने "इंडियन रिव्यू" में एक लेख लिखा है। उसमें उन्होंने सिद्ध किया है कि साढ़े तीन हज़ार वर्ष पहले भारत-वासी व्यापार आदि के लिए अन्य देशों में केवल आते जाते ही न थे; किन्तु वे मिश्र में जाकर बस भी गये थे।

मिश्र में सोने की ऐसी बहुत सी खानें हैं जो ईसा के पहले सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में खोदी जाती थीं। उस समय पश्चिमी संसार में कोई देश, आबादी या व्यापार में, इतना बढ़ा हुआ न था कि उसको सिक्के चलाने की ज़रूरत पड़ती। असल बात तो है कि इतने प्राचीन समय का एक भी पश्चिमी सिक्का अभी तक नहीं मिला। पुराने से पुराना सिक्का जो मिला है, ईसा के पहले चौदहवीं शताब्दी का है। इसके विरुद्ध इस बात के दृढ़ प्रमाण मिलते हैं कि भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल में भी खानें खोदी जाती थीं और उनसे सोना निकाल कर सिक्के बनाए जाते थे। श्रुति, स्मृति आदि भारत के

प्राचीनतम काल के साहित्य में भी अनेक प्रकार के सिक्कों के नाम आते हैं। यहां आबादी और व्यापार बढ़ने के साथ साथ सिक्कों और गहनों आदि के लिए सोने की मांग भी अवश्य ही बढ़ गई होगी। सम्भव है, यहां काफी सोना न मिलने से भारत-वासी मिश्र की खानों से सोना लाकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करते रहे हों।

इस बात के सबूत मिलते हैं कि मिश्र में पहले पहल लंका-निवासी समुद्र के रास्ते से अरब, अबीसीनिया या एथिओपिया गये। इनके बाद मलाबार, कच्छ, उड़ीसा और बंगाल की खाड़ी के आस पास के रहने वाले मिश्र पहुँचे। उत्तरी भारत के निवासी बेक्ट्रिया, सीरिया और एशिया माइनर होते हुए, उन लोगों के बहुत पीछे, अर्थात् ईसा के पहले तेरहवीं शताब्दी में वहां पहुँचे। यद्यपि मिश्रवालों ने अपने इतिहास में भारतवासियों का जिक्र नहीं किया, यद्यपि उन्होंने अपने इतिहास में अपने धर्मशास्त्र और अपनी वंशपरम्परा को स्वतंत्र रूप देने की चेष्टा की है, तथापि उनकी प्रत्येक बात से हिन्दुस्तानीपन टपकता है। पूर्वोक्त भार साहब ने बड़ी ही दृढ़ और अकाट्य युक्तियों से यह साबित कर दिया है कि हिन्दू लोग मिश्र में जाकर बसे थे और उन्हीं से मिश्रवालों ने सभ्यता सीखी।

मिश्रवाले अपने पहले राजा और धर्म-शास्त्र प्रणेता का नाम मोनस बतलाते हैं, जो हमारे मनु के सिवा और कोई नहीं। केवल मिश्रवालों ही ने नहीं, किन्तु उस समय की अन्य जातियों ने

भी मनु को मनिस, मनस, मनः, मन, मनु आदि नामों से अपना व्यवस्थापक माना है। मिश्रवाले कहते हैं कि मनु को हुए कोई ८६८४ वर्ष बीते। रोम और ग्रीस वाले भी अपने एक देवता को इतने ही साल का पुराना मानते हैं। डियोडोरस और जस्टिन आदि इतिहासकारों का कथन है कि यह देवता भारतवर्ष का है।

भारत और मिश्र के प्राचीन सम्बन्ध के अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। मिश्र की एक प्राचीन जाति का नाम "दानव" है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि "दानव" शब्द पुराणों में सैकड़ों जगह आया है। सत्ताईस सौ वर्ष पुराने काल्डिया के शिला लेखों से मालूम होता है कि भारत का व्यापार फ़ारस की खाड़ी में खूब होता है। जिनाफन अपने ग्रन्थ में लिखता है कि ईसा के ६०० वर्ष पहले भारत का एलची, सीजर बादशाह के दरबार में, गया था। उसके बाद भारत का व्यापार केवल मिश्र ही में नहीं, किन्तु कार्थेज और रोम तक फैल गया था।

बड़े बड़े विद्वानों का कथन है कि भारतवर्ष ने साढ़े तीन हज़ार वर्ष पहले ज्योतिष में खूब उन्नति कर ली थी। मिश्र ने सैकड़ों वर्ष पीछे भारतवासियों ही के द्वारा ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त किया। इस बात को डूपस नामक एक फ्रेंच विद्वान् ने बड़ी अच्छी तरह सिद्ध किया है।

मिश्र की इमारतें और गुफा-मन्दिर सब हिन्दोस्तानी ढंग के हैं। यही क्यों, एक साहब की तो राय है कि आयरलैंड के बुर्ज़ भी हिन्दोस्तानी काट-छाँट के हैं।

मिश्र की कोई साढ़े तीन हजार वर्ष पुरानी कब्रों में नील, इमली की लकड़ी और ऐसी ही अन्य कई चीजें मिली हैं, जो केवल भारतवर्ष में पैदा होती हैं। यूफ्रेटिस नदी के किनारे मघेर नामक स्थान की एक कब्र में सागौन की लकड़ी पाई गई है। वह ५००० वर्ष की पुरानी साबित हुई है। स्मरण रहे, सागौन के पेड़ हिन्दोस्तान के सिवा दुनिया में और कहीं नहीं होते। कई इतिहासकारों का मत है कि प्राचीन समय में मिश्र, रोम, ग्रीस और एशिया-माइनर में ऐसी बहुत सी औषधियाँ और वनस्पतियाँ काम में आती थीं, जो केवल हिन्दोस्तान में उत्पन्न होती हैं।

प्राचीन भारत के सिक्कों के नाम भी मिश्र आदि कई पश्चिमी देशों में प्रचलित थे। जैसे माशा, सिकल, (सिक्का) दीनारस (दीनार) आदि। वहाँ की तौल-नाप के बाट आदि भी हिन्दोस्तान ही के समान थे। सबसे बढ़ कर विचित्र बात यह है कि यहाँ का रुपया इसी नाप, तौल और रूप में प्राचीन मेक्सिको में प्रचलित था।

प्राचीन मिश्रवाले हिन्दोस्तानियों ही के वंशज थे। मार्टन नाम के एक साहब ने अपने ग्रन्थ में एक जगह लिखा है कि मसाला लगे हुए मुर्दों की सौ में अस्सी खोपड़ियाँ आर्य्य-जाति की थीं। भारत के समान मिश्र वाले भी कई वर्णों में विभक्त थे।

एपोनस और प्लीनी आदि इतिहास-लेखकों का कथन है कि लौकी, नारंगी, इंजीर, नाशपाती, चावल और लोहा आदि कई चीजें भारत ही से मिश्र आदि देशों में गईं।

मिश्र की बहुत सी जगहों के नाम—जैसे नील, शिव, एलीफेंटा और मेरु आदि बिल्कुल भारतवर्ष की नक़ल है। मासी साहब ने अपनी एक पुस्तक के परिशिष्ट में ऐसे ५६० शब्द दिये हैं जो संस्कृत और मिश्री, दोनों भाषाओं में, एक ही से व्यवहृत हैं।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि प्राचीन काल में भारतवासी मिश्र में जाकर अवश्य आबाद हुए थे और इन्हीं से मिश्र वालों ने सभ्यता सीखी।

[सितम्बर १६०८

६—बाली-द्वीप में हिन्दुओं का राज्य

भारत-महासागर और प्रशान्त महासागर जहाँ पर मिलते हैं वहीं सुमात्रा, जावा आदि बहुत से द्वीप हैं। किसी समय उन द्वीपों में हिन्दुओं का राज्य था। संस्कृत-भाषा और हिन्दू-धर्म ने वहाँ पर अपना अटल प्रभाव जमा लिया था। इस बात के सैकड़ों चिह्न वहाँ पाये जाते हैं। चौदहवीं शताब्दी में, मुसलमानों के आक्रमण के बाद इन द्वीपों में हिन्दुओं का प्रभाव घटने लगा। धीरे धीरे हिन्दू-धर्म, हिन्दू-राज्य और संस्कृत-भाषा का वहाँ लोप हो गया। इन द्वीपों के अधिकांश अधिवासी मुसलमान हो गये। परन्तु जो लोग अपने धर्म को अपनी जान से अधिक प्यारा समझते थे वे मुसलमान-संसर्ग-दूषित बड़े बड़े द्वीपों को छोड़ कर छोटे छोटे टापुओं में जा बसे। बाली, लम्बक आदि द्वीप इसी प्रकार के छोटे टापुओं में हैं। इन टापुओं में अब भी हिन्दू धर्म और हिन्दू राजों का राज्य है।

बाली और लम्बक-द्वीप जावा के पूर्व हैं। यों तो वहाँ सैकड़ों छोटे छोटे द्वीप हैं, पर हिन्दुओं का राज्य केवल इन्हीं दो द्वीपों में बाक़ी रह गया है। जिन लोगों ने इन दोनों द्वीपों को देखा है उनका कथन है कि ये द्वीप प्राकृतिक सौन्दर्य्य में अद्वितीय हैं। वहाँ के नगर और ग्राम संसार के बड़े बड़े सुन्दर, मनोहर और

शोभा-सम्पन्न स्थानों से टक्कर ले सकते हैं। बाली की बनावट बड़ी विचित्र है। वह बीच में तो खूब ऊँचा है, पर चारों ओर ढालू होता चला गया है। कहते हैं कि इन दोनों द्वीपों के चारों तरफ़ का समुद्र सदा तरङ्गसङ्कुल रहता है। वहाँ अकसर तूफ़ान आया करते हैं। इसलिए जहाज़ के द्वारा इन टापुओं में जाना बड़ा विपज्जनक है।

बाली और लम्बक-द्वीप के आदिम निवासियों को शशाक कहते हैं। उनको परास्त करके हिन्दुओं ने वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। सुनते हैं कि लम्बक-द्वीप के कुछ शशाक इस समय मुसलमान हो गये हैं। परन्तु वहाँ के अधिकांश निवासी हिन्दू ही हैं और उन्हीं का राज्य इन द्वीपों में है। हिन्दू-लोग शशाक मुसलमानों पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं करते; किन्तु उन लोगों से अच्छी तरह मिलते जुलते हैं। वहाँ का राज्य यद्यपि राजतन्त्र है, तथापि सर्व-साधारण जन राज-शासन से अप्रसन्न नहीं हैं। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि किसी किसी अपराध का दण्ड बड़ा ही कठोर है। इन राज्यों में चोरों को अब भी प्राणदण्ड दिया जाता है। व्यभिचारी (स्त्री पुरुष दोनों ही) बाँध कर समुद्र में फेंक दिये जाते हैं। सतीत्व-धर्म का इतना अधिक सम्मान किया जाता है कि पता लगते ही असती स्त्रियाँ तुरन्त मार डाली जाती हैं। एक बार किसी व्यभिचारिणी स्त्री को एक यूरोपियन सौदागर ने अपने यहाँ रख लिया। खबर लगते ही राजा का दूत साहब के घर पहुँचा। साहब और कुलटा एक

कमरे में बैठे बातें कर रहे थे। यह देखते ही राज-दूत क्रोध से जल उठा। उसने आव देखा न ताव, म्यान से तलवार निकाल कर उस असली का सिर धड़ से जुदा कर दिया और यह कह कर वहाँ से चल दिया कि हमारे राजा ने साहब को ऐसा ही पुरस्कार देने के लिये कहा था।

बाली और लम्बक के निवासियों में जितने हिन्दू हैं वे प्रायः सभी शैव हैं। केवल दो चार बौद्ध हैं। शैव लोग चतुर्वर्ण में हैं। वहाँ वाले उन्हें अपनी भाषा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, विपिय और शूद्र कहते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये शब्द हमारे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ही के परिवर्तित सूचक हैं। बाली-निवासी चतुर्वर्ण को "चतुर्जन्म" कहते हैं। उच्च जाति के लोग नीची जाति की कन्या के साथ विवाह कर सकते हैं, परन्तु उन्हें अपनी कन्या नहीं दे सकते। यदि ऐसा सम्बन्ध कहीं हो जाता है तो उससे जो सन्तान होती है वह वर्णसङ्कर कहलाती है। असवर्ण-विवाह में कोई बाधा नहीं दे सकता। तथापि ऐसा सम्बन्ध धर्मानुमोदित नहीं समझा जाता। केवल सवर्ण-विवाह ही को वे लोग धर्मानुकूल समझते हैं। इस हिन्दू-राज्य में जितने नगर और ग्राम हैं उनमें केवल चतुर्वर्ण ही रह सकते हैं। कुम्हार, धोबी, रँगरेज, चमार और मेहतर आदि नगरों और ग्रामों के भीतर नहीं रह सकते; उनके लिये गाँव के बाहर स्थान नियुक्त होता है। वे लोग वहीं रहते हैं। इन सब जातियों को बाली के चतुर्वर्ण चाण्डाल कहते हैं और उन्हें छूते तक नहीं।

इन चतुर्वर्ण-हिन्दुओं में केवल वैश्य और शूद्र ही नाना प्रकार के देवताओं और देवियों की मूर्तियाँ नहीं पूजते। वहाँ ब्राह्मणों का प्रताप अब भी अक्षुण्ण है और सर्वसाधारण उन्हें भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। क्षत्रिय लोग सेना और विचार-विभाग में काम करते हैं। ब्राह्मण लोग शिखा धारण करते हैं; पर यज्ञोपवीत नहीं पहनते। मंत्रोच्चारण में ओंकार का व्यवहार प्रचलित है। परन्तु वहाँ वाले उसे "ओंग शिव चतुर्भुज"—यह मन्त्र पढ़ते हैं। ये शब्द "ओं शिव चतुर्भुज" का केवल बिगड़ा हुआ रूप है।

बाली-द्वीप के ब्राह्मणेतर हिन्दू खाद्याखाद्य का कुछ भी विचार नहीं करते। वे गो-मांस तक खाते हैं। अन्य पशु-पक्षियों की तो बात ही क्या है। मुर्गी और सुअर का मांस तो वहाँ वालों का अत्यन्त प्रिय खाद्य है। यह बात बाली के केवल क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों ही की है। वहाँ के ब्राह्मण निरामिषहारी हैं। उनमें से कोई कोई ऐसे भी हैं जो केवल फल-फूल खाकर ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। अन्य खाद्य पदार्थ हाथ से भी नहीं छूते।

द्वीप में भिखारी ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते। यदि कोई मनुष्य कोई साधारण पाप-कर्म करता है तो उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है। परन्तु प्रायश्चित्त करने वाले को शारीरिक दण्ड नहीं भोगना पड़ता। गोबर या गोमूत्र भी नहीं खाना पड़ता। किन्तु जब वह अपना प्रियतम खाद्य त्याग करता है तब किसी गुफा में जाकर

अज्ञात वास करना है और ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करता है। तभी उसका प्रायश्चित्त होता है। बाली और लम्बक में सतीदाह की प्रथा अब भी वर्तमान है। इसे वहां वाले "सत्य" कहते हैं। यह प्रथा क्षत्रियों और वैश्यों में विशेष रूप से प्रचलित है। वहां के हिन्दू बहु-विवाह कर सकते हैं। इसलिए यह अकसर देखा जाता है कि एक मनुष्य के मरने पर कई विधवायें चिता पर जलती हैं। मृत मनुष्य का सत्कार करने की प्रणाली कुछ विचित्र सी है। जब कोई मनुष्य मरता है तब उसी समय वह जलाया नहीं जाता; किन्तु एक मास के बाद उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया की जाती है।

साधारण आदमियों की अन्त्येष्टि-क्रिया जिस तरह की जाती है उस तरह राजा की नहीं की जाती। रानियों की सहमरणरीति भी कुछ भिन्न है। राजा की अन्त्येष्टि-क्रिया समाप्त हो जाने पर उसकी चिताभस्म रख ली जाती है। उसके पाँचवें दिन सब रानियां एक निर्दिष्ट स्थान पर इकट्ठी होती हैं। उस समय पटरानी एक गोला फेंकती है। वह गोला जहां गिरता है उसी जगह रानियां अपनी अपनी छातियों में छूरियां भोंक लेती हैं। इस तरह उनकी सहमरण-क्रिया समाप्त हो जाती है।

बाली-द्वीप में शाल-वाहन का शकाब्द अब भी व्यवहृत है। वहां वाले उसे "शकवर्षचन्द्र" कहते हैं। वहां के शैव लोगों के पास बहुत से हस्त-लिखित ग्रन्थ पाये जाते हैं। उनमें से प्रधान ग्रन्थों के नाम उन लोगों की बोली में ये हैं—आगम, आदिगम, सारसमुच्चयागम, देवागम, मैश्वरतत्व, लोकान्तरागम, गन्यागम

इत्यादि। वहाँ के अनेक शास्त्र-ग्रन्थ विलुप्त हो गये हैं।

बाली और लम्बक द्वीप के हिन्दू पहले जावा में रहते थे। मुसलमानों के भय से वे वहाँ से बहुबाहु नामक राजा के साथ बाली-द्वीप में चले आये। ये लोग जावा में कब और किस सिलसिले से आये थे, यह बात कोई नहीं जानता। हाँ, इतना पता अवश्य लगता है कि कलिङ्गदेश के शैवों ही ने जावा में हिन्दू-राज्य स्थापित किया था।

भाषा, धर्म, आचार, व्यवहार आदि सभी बातें देश और काल के भेद से विभिन्न हो जाती हैं; परन्तु विभिन्न हो जाने पर भी उनमें कुछ कुछ सादृश्य बना रहता है। बाली द्वीप की भाषा, धर्म, आचार और व्यवहार में भी उसका परिचय पाया जाता है। इस द्वीप तथा आस पास के अन्यान्य द्वीपों की भाषा के साथ संस्कृत का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस बात को इन द्वीपों में जाने वाले सभी लोगों ने स्वीकार किया है।

भारत-महासागर के इन दो हिन्दू-द्वीपों का इतिहास इस समय तिमिराच्छन्न है। इन द्वीपों में हिन्दू लोगों ने कब और किस प्रकार उपनिवेश स्थापन किया, इसका लिखित इतिहास न तो बालिद्वीप ही में मिलता है और न अन्य ही किसी देश में।

यदि यह मान लिया जाय कि शैव लोगों ने वहाँ उपनिवेश स्थापित किया तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह घटना बौद्ध धर्म के आविर्भाव होने के पीछे की है। बाली द्वीप में शकाब्द का प्रचलन इस मत को पुष्ट करता है। परन्तु उपनिवेश-स्थापन

करने के पहले भी हिन्दू लोग इन द्वीपों में प्राचीन काल से आते जाते थे, इस बात के बहुत से प्रमाण पाये जाते हैं। मृत्यु के बाद एक मास तक शव रखना बहुत पुरानी पद्धति है। बौद्ध धर्म के आविर्भाव होने के पहिले भी भारतवर्ष में इसका चलन था।

भारतवर्ष की भाषा (संस्कृत) बाली आदि द्वीपों में वहाँ की असभ्य भाषाओं के मेल से जिस प्रकार बदल गई है उसी प्रकार भारत के आचार-व्यवहार भी वहाँ परिवर्तित हो गये हैं। जब स्थान, काल और पात्र के भेद से भारतवर्ष ही के विभिन्न प्रदेशों में भिन्न भिन्न आचार-व्यवहार और भाषायें प्रचलित हैं तब यदि समुद्र-पार के द्वीपों की भाषा, आचार और व्यवहार भारत की भाषा, आचार, व्यवहार से कुछ कुछ भिन्न हो जायँ तो आश्चर्य ही क्या है ? इस भिन्नता के होते भी भारतवर्षीय हिन्दुओं और बाली आदि द्वीपों के हिन्दुओं के आचार-व्यवहार और भाषा में बहुत कुछ सादृश्य वर्तमान है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि इन द्वीपों के हिन्दू भारत के प्राचीन हिन्दुओं के अध्यवसाय की कीर्ति-चिह्न-स्वरूप होकर अब भी उनकी गौरव-पताका फहरा रहे हैं।

[मई १९११

७—राजा युधिष्ठिर का समय

संसार में विचार और विवेचना की बड़ी ज़रूरत है। बिना विवेचना के, बिना विचार के, सत्य का ठीक ठीक अनुसन्धान नहीं हो सकता। यदि किसी ने सत्य को पाया है तो विचार और विवेचना ही की बदौलत पाया है। जब किसी बात की विवेचना की जाती है तब बहुधा विवाद उपस्थित होता है। क्योंकि विवेचक जिसकी बात या जिसके मत का खण्डन करता है वह, उसे विपक्षी की विवेचना ठीक न मालूम हुई तो, उसका उत्तर देता है। इस तरह वाद-विवाद बढ़ता और किसी मत या विषय-विशेष की सत्यता की जाँच करने ही की इच्छा से यदि दोनों पक्ष विवाद पर कमर कसते हैं तो उनका मनोरथ सफल भी हो जाता है। इसलिए विवेचना की इतनी महिमा है। जान स्टुअर्ट मिल ने तो अपनी "स्वाधीनता" नाम की पुस्तक में विचार और विवेचना का बहुत ही अधिक माहात्म्य गाया है। उसकी राय है कि किसी मत-प्रवर्तक की यदि सचमुच ही यह इच्छा हो कि उसे अपने मत की योग्यता का यथार्थ ज्ञान हो जाय, और उसे विपक्षी भी मान लें, तो वह अपने ही मतवालों में से किसी को कल्पित विपक्षी बना कर उसके साथ वाद-प्रतिवाद करे। बिना इसके उसे अपने मत की सत्यता पर निश्चय पूर्वक विश्वास नहीं हो सकता।

पर वाद-विवाद करने के नियम हैं। मनमानी बात कह देने का नाम विवाद या विवेचना नहीं है। इस बात को भारत के दार्शनिक महात्माओं ने भी स्वीकार किया है। यदि कोई कहे कि १० और १० इक्कीस होते हैं तो उसका यह उत्तर ठीक अवश्य होगा कि १० और १० इक्कीस नहीं बीस होते हैं। परन्तु विवेचना का यह तरीक़ा ठीक नहीं है। विवेचक को चाहिए कि वह अपने उत्तर को, अपने मत को, मज़बूत दलीलों से साबित करे और उसके साथ ही प्रतिपक्षी के मत का सप्रमाण खण्डन भी करे। जो यह कहता है कि १० और १० बीस होते हैं, उसे चाहिए कि एक जगह १० और दूसरी जगह ११ लकीरें खींच कर वह अपने प्रतिपक्षी से उन्हें गिनावे और इस बात को साबित करे कि इक्कीस होने के लिए १० और ११ की ज़रूरत होती है। ऐसा करने से उसके प्रतिपक्षी का मत खण्डित हो जायगा। तब वह १० और १० लकीरों को गिन कर सिद्ध करे कि उनका जोड़ बीस होता है। इस तरह उसके मत का मण्डन होगा। यह उदाहरण कल्पित है। और भी कई तरह से नियमानुसार खण्डन-मण्डन हो सकता है। १० और १० मिल कर बीस होते हैं। यह निर्भ्रान्त है। परन्तु इस प्रकार निर्भ्रांत उत्तर देने वाले की तर्कपद्धति भी जब सदोष मानी जाती है तब भला बिना प्रमाण के यदि कोई १० और १० के जोड़ को २१ या १९ बताने लगे तो उसकी तर्कना-प्रणाली का क्या कहना है। जिसे विवेचना में इस प्रकार की पद्धति का अवलम्बन होता है वह हेय और उपेक्ष्य समझी

जाती है। उस पर ध्यान न देना ही अच्छा होता है। यह हम किसी को लक्ष्य करके नहीं लिखते। तर्कना का साधारण नियम समझ कर हमने यहाँ पर उसे लिख दिया है।

सरस्वती में गत वर्ष वराह-मिहिर पर एक लेख निकला। उस में लेखक ने एक प्रमाण देकर यह साबित किया कि महाभारत हुए ११,००० वर्ष हुए। इसके बाद मदरास की तरफ़ के एक वकील साहिब का एक लेख हमने पढ़ा। उसमें लेखक ने यह सिद्धान्त निकाला था कि युधिष्ठिर को हुए सिर्फ़ २००० वर्ष हुए। उन्हीं के नाम का उल्लेख करके यह भी हमने लिख दिया। अपनी तरफ़ से हमने कुछ भी नहीं लिखा। यह पिछला मत पं० गणपति जानकी राम दुबे को ग़लत मालूम हुआ। इस पर उन्होंने एक और सज्जन के मत के आधार पर एक छोटा सा लेख सरस्वती में छपने के लिए भेजा। उसे भी हमने छाप दिया। उसके अनुसार वर्तमान समय से ७१५१ वर्ष पहले युधिष्ठिर विद्यमान थे। यह मत खुद दुबे जी का नहीं। किन्तु एक दूसरे पंडित का है। इस पर हमने कहा कि दुबे जी यदि वकील साहब के मत का सप्रमाण खण्डन करके इस नये मत के सच होने पर ज़ोर देते तो उसका अधिक गौरव होता। साथ ही हम ने यह भी दिखलाया कि उनके लिखे हुए मत की पुष्टि के लिए भी बहुत सी बातों का उत्तर देना बाक़ी है। यह हमने इसलिए लिखा कि दुबे जी विद्वान् हैं और वाद-विवाद करने के नियमों को जानते हैं। इसलिए वे हमारे कहने को बुरा न समझेंगे।

जिस समय दुबे जी का लेख हमारे पास आया, हम कनिंहाम साहब की पुरातत्व सम्बन्धी रिपोर्ट पढ़ रहे थे। उनमें एक अध्याय देहली के ऊपर था। उसमें युधिष्ठिर के सम्बन्ध में गंभीर गवेषणा से भरा हुआ एक लेख था। उसे हम दो ही चार दिन पहले पढ़ चुके थे। इसलिए दुबे जी के लेख पर नोट देते समय हमने कनिंहाम साहब का मत भी लिख दिया। उनके मत में महाभारत हुए कोई सवा तीन हज़ार वर्ष हुए। हमने अपने मन में कहा कि जब सब अपने अपने मत लिख रहे हैं तब उनका भी सही। जो अपने मत को सबल और विश्वसनीय प्रमाणों से सच्चा साबित कर देगा उसी का मत मान्य हो जायगा। किसी अँगरेज या मुसल्मान की राय लिख देना क्या कोई अनुचित बात है?

इस पर हमारे सुविज्ञ प्रयाग-समाचार ने हमारे नोट पर एक लेख-मालिका निकालनी शुरू की है। इस मालिका का पहला नम्बर ५ मार्च के प्रयाग समाचार में निकला है। आप की राय है कि विलायती पंडितों के पुरातत्व-विषयक सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक और अविश्वसनीय होते हैं। सब नहीं, उतने ही जितने "हम लोगों" के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। पर हमारी मन्दबुद्धि में यह आता है कि एक आदमी का सिद्धान्त दूसरे आदमी के सिद्धान्त के विरुद्ध होने ही से वह भ्रान्तिमान् या विश्वासहीन नहीं हो सकता। विरोध होना अविश्वसनीयता का चिन्ह नहीं। देशियों के भी सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक हो सकते हैं और विदेशियों के भी। पर प्रमाण की अपेक्षा होती है। क्या स्वदेशियों के सभी

सिद्धान्त विश्वसनीय होते हैं? क्या कृष्ण-चरित के कर्ता के सब सिद्धान्त भ्रान्तिहीन हैं? क्या पुराणों के प्रक्षिप्त, श्रीकृष्ण की अलौकिक लीलाओं को कपोल-कल्पना और वृन्दावन-विहार-सम्बन्धी पौराणिक कथा को "अतिप्रकृत उपन्यास" मानने के लिए सब लोग तैयार हैं? ये सब सिद्धान्त बङ्किम बाबू ही के तो हैं। ये उन्हीं के कृष्ण-चरित में हैं।

हमारी प्रार्थना है कि युधिष्ठिर के समय का हमने ज़रा भी अनुमान नहीं किया। यदि किसी ने किया है तो बङ्किम बाबू और जनरल कनिंहाम ही ने किया है। हमारा अपराध सिर्फ़ इतना ही है कि हमने कनिंहाम के अनुमान को लिख भर दिया है। इसके लिए हम प्रयाग-समाचार से क्षमा मांगते हैं। हमने कनिंहाम साहब के अनुमान को दस पांच सतरों में लिख दिया, आपने बङ्किम बाबू के अनुमान को कई कालमों में। हमारे और आपके लेख में फ़रक़ इतना ही है।

हमने कनिंहाम साहब के मत की जाँच करने की ज़रा भी कोशिश नहीं की। क्योंकि युधिष्ठिर का समय निर्णय करने के अभिप्राय से हमने अपना नोट लिखा ही नहीं। अतएव उनके उल्लिखित प्रमाणों को पुराणों में ढूंढ़ने की हमने कोई ज़रूरत नहीं समझी। जिसे युधिष्ठिर के समय का निर्णय करना हो वह उन्हें देखे और यदि कनिंहाम ने अपने अनुमान में ग़लतियाँ की हों तो उनको सुधार दे। यदि प्रयाग-समाचार की यह राय हो कि दूसरे के अनुमान को कोई तब तक नहीं लिख सकता जब तक उस

अनुमान की साधनीभूत सामग्री को वह खुद न देख ले और उसकी सत्यता पर उसका विश्वास न हो जाय, तो मानों यह कबूल कर लेना होगा कि बङ्किम बाबू के निर्णय में संस्कृत और अंग्रेजी के जितने ग्रन्थों का नाम आया है उन सब को आपने देख लिया है और उल्लिखित वाक्यों की यथार्थता की परीक्षा भी कर ली है।

बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बङ्किम बाबू ने कृष्णचरित्र नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने महाभारत के काल का निर्णय भी किया है। इसी निर्णय का भावार्थ प्रयाग समाचार ने देना शुरू किया है।

बङ्कीम बाबू कहते हैं कि योरप के किसी किसी पंडित का मत है कि महाभारत ईसा के पहले चार पांच सौ वर्ष से अधिक पुराना ग्रन्थ नहीं है। पर स्वदेशी पंडितों की सम्मति है कि महाभारत वर्तमान समय से कोई पांच हजार वर्ष पहले का है। इन दोनों मतों को बाबू साहब "घोरतर भ्रम परिपूर्ण" बतलाते हैं। महाभारत कब हुआ इस सम्बन्ध में आपने अपनी मीमांसा में जिन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का मत दिया है उनकी तालिका इस प्रकार है।

विष्णुपुराण	ईसा के पहले	१४३० वर्ष
मत्स्य और वायुपुराण	,, ,,	१४६५ वर्ष
कोलब्रुक, बिलसन और एलफिंस्टन	,, ,,	चौदहवीं शताब्दी
बिलफर्ड	,, ,,	१३७० वर्ष

बुकानन	ईसा के पहले तेरहवीं शताब्दी
प्राट	,, ,, बारहवीं शताब्दी

इन सब मतों में बङ्किम बाबू विष्णुपुराण ही के मत को सब से अधिक ठीक समझते हैं। आप अपनी पुस्तक में लिखते हैं—"विष्णुपुराण से ईसा के १४३० वर्ष पहले की प्राप्त होती है, वही ठीक है। मुझे भरोसा है कि इन सब प्रमाणों को सुन कर अब कोई यह न कहेगा कि महाभारत का युद्ध द्वापर के शेष में, पांच हज़ार वर्ष पहले, हुआ था।" अच्छा तो विष्णुपुराण ही का मत बङ्किम बाबू का हुआ। तदनुसार महाभारत का युद्ध ईसा के १४३० वर्ष पहले हुआ; द्वापर के अन्त में नहीं। प्रयाग-समाचार को भी शायद-यही मत ठीक जँचा है। अच्छा १४३० में १९०४ जोड़ दीजिए। फल ३३३४ वर्ष हुए। अब गत फरवरी की सरस्वती का बयालीसवाँ पृष्ठ देखिए। वहाँ लिखा है कि—"इस हिसाब से महाभारत को कोई सवा तीन हज़ार वर्ष हुए"। कनिंहाम साहब और बङ्किम बाबू का मत एक हो गया। क्योंकि ८४ वर्ष का अन्तर कोई अन्तर नहीं। फिर हमारे 'कोई' शब्द पर भी तो ध्यान देना चाहिए। परीक्षित का जन्म साहब ने ईसा के १४३० वर्ष पहले अनुमान किया है। ठीक वही समय विष्णुपुराण और बङ्किम बाबू के मत में महाभारत का है। अब बङ्किम बाबू के निर्णय और कनिंहाम के अनुमान में भेद कहाँ है, यह समझ में नहीं आता। किस निमित्त यह परिश्रम हो रहा है, क्यों यह लेख-माला निकाली जा रही है, अभी तक यह हमारे ध्यान ही में नहीं

आया। शायद अन्त की माला में इसका रहस्य खुले। बङ्किम बाबू ने अपनी पुस्तक में विलायती पण्डितों को दो चार उल्टी सीधी सुनाई हैं उनका अनुवाद करके पाठकों का मनोरञ्जन करने के लिए यदि यह परिश्रम हो तो हो सकता है।

गीता हिन्दुओं की सब से पूज्य पुस्तक है। उसमें लिखा है—

" शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।"

तब यदि हैट-कोट-धारी कोई मनुष्य कुछ कह दे तो क्या उसके हैट-कोट के कारण ही उसकी बात अविश्वसनीय हो जाय ? ऐसा तो नहीं हो सकता। यदि उसके कथन में कुछ सार है तो उसे ले लीजिए और यदि नहीं है तो जाने दीजिए। यह कोई न्याय नहीं कि बिना प्रतिकूल प्रमाण के ही हैट-कोट और बूट वालों का पूरा तत्त्व-सम्बन्ध में कुछ कहना सर्वथा अश्रद्धेय है और तिलक, माला और पगड़ी वालों का कहना सर्वथा श्रद्धेय है। बङ्किम बाबू के चित्र में भी हम पगड़ी देखते हैं; परन्तु कृष्ण-चरित्र में उन्होंने बहुत सी ऐसी बातें कही हैं जिनको सुन कर धार्म्मिक हिन्दू शायद काँप उठें।

बङ्किम बाबू के लेख का जो भाव प्रयाग-समाचार के मान्य-वर सम्पादक ने हिन्दी में दिया है उसमें कई जगह दृष्टि-दोष हो गया है। उसके दो एक उदाहरण हम देते हैं।

मूल—कृष्ण—चरित—१ म खण्ड, ४र्थ परिच्छेद	हिन्दी भावार्थ
(१) महाभारत प्राचीन ग्रन्थ बटे, किन्तु खि० पू० चतुर्थ कि	महाभारत प्राचीन ग्रन्थ तो है; परन्तु अब से चार अथवा पांच शताब्दी पूर्व रचा गया।

पञ्चम शताब्दी से प्रचलित हइया-छिल।

(२) पूर्वोक्त ग्रन्थ, पञ्चम परिच्छेद

प्रथमे देशी मतेरई समालोचना आवश्यक। ४९४२ वत्सर पूर्वे कुरुक्षेत्रे युद्ध हइयाछिल, ए कथा सत्य नहें। इहा आमि देशी ग्रन्थ अवलम्बन करिआई प्रमाण करिब।

हिन्दी भावार्थ।

जो लोग यह कहते हैं कि कुरुक्षेत्र में महायुद्ध के अधिवेशन हुये केवल ४९९२ वर्ष व्यतीत हुए हैं, यह उनका कहना सत्य नहीं है। इस बात को अवलम्ब न कर हम आगे सिद्ध करेंगे।

पहले अवतरण के हिन्दी—भावार्थ में "ख्रि० पू०" के छूट जाने से हज़ार वर्ष का अन्तर हो गया। दूसरे अवतरण में और बातों को जाने दीजिए, सिर्फ "केवल" शब्द को देखिए। अकेले इस शब्द के आ जाने से अर्थ का अनर्थ हो गया। यह शब्द मूल में नहीं है। ये त्रुटियाँ जान बूझ कर नहीं की गईं। सिर्फ असावधानता से हुई हैं। परन्तु हमारे माननीय सहयोगी का मतलब यदि सत्य के ढूँढ़ने का है तो उसे अधिक सावधान रहना चाहिए।

सुविज्ञ प्रयाग-समाचार से हमारी यही प्रार्थना है कि जो कुछ हमने लिखा है सिर्फ सत्य के अनुरोध से लिखा है। यदि हमसे कोई शब्द अनुचित निकल गया हो तो उसके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। जिस लेख का यह उत्तर है उसके आरम्भ में कई बातें ऐसी

हैं जिनके उत्तर देना या जिन पर कुछ कहना हमने मुनासिब नहीं समझा। युधिष्ठिर के समय का निर्णय होना महत्व की बात है। इसी ख्याल से, प्रार्थना के रूप में, जो कुछ कहना था हमने कह दिया है। यदि और कोई ऐसी वैसी बात होती तो हम चुप रहने के सिवा और कुछ न कहते—

सत्यव्रत युधिष्ठिर के काल का निर्णय हो चुका। तीन खण्डों में उसकी समाप्ति हुई। अन्तिम, अर्थात् तीसरा खण्ड, २ एप्रिल के प्रयाग-समाचार में निकला। २ मई तक हमने और राह देखी कि शायद इसके भी आगे कोई टीका-टिप्पणी निकले; परन्तु और कुछ नहीं निकला। बङ्किम बाबू के कृष्णचरित्र के प्रथम खण्ड के सातवें परिच्छेद का नाम है "पाण्डवों की ऐतिहासिकता।" उसी का अनुवाद देकर यह लेख-मालिका पूरी कर दी गई। लेख का अन्तिम फलांश यह है।

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में, उपासना अर्थ के बोधक वासुदेवक और अर्जुनक शब्द की व्युत्पत्ति दी है। गोल्डस्टुकर साहब का मत है कि जब पाणिनि सूत्र बने थे तब गौतम बुध नहीं पैदा हुए थे। अर्थात् पाणिनि का काल ईसा के पहले छठी शताब्दी कहा जा सकता है। उन के मत में उस समय ब्राह्मण, आरण्यकोपनिषद इत्यादि कुछ न थे और न आश्वलायन, सांख्यायन आदि का ही अभ्युदय हुआ था।

मोक्षमूलर के मत में ब्राह्मणों का समय ईसा के पहले १००० वर्ष है। अतएव बङ्किम बाबू ने पाणिनि का समय ईसा के पहले

अधिक से अधिक दशम या एकादश शताब्दी अनुमान किया। आप ने वेबर साहब को "भारत द्वेषी" की और उन्हीं के देश वासी गोल्डस्टुकर को "आचार्य" की पदवी दी है। अस्तु। इससे यह सूचित हुआ कि ईसा के हज़ार वर्ष पहले ही महाभारत प्रचलित था और वासुदेव तथा अर्जुन आदि की गिनती देवताओं में होने लगी थी। यदि ऐसा न होता तो पाणिनि को वासुदेवक और अर्जुनक के शब्दों को साधना न बतलानी पड़ती। अच्छा, महाभारत तो ईसा के हज़ार वर्ष पहले प्रचलित था, पर युधिष्ठिर किस समय विद्यमान थे? अथवा महाभारत का युद्ध कब हुआ था? यहाँ ईसा के पहले १४३० वर्ष। वही विष्णुपुराण का मत जिसे बङ्किम बाबू ने पसन्द किया है। क्योंकि उन्होंने उसका कहीं खण्डन नहीं किया। युद्ध होने के बाद तीन चार सौ वर्ष में वासुदेव और अर्जुन इत्यादि की गिनती देवताओं में होने लगी होगी। यही बङ्किम बाबू का मत है।

सुशिक्षित सम्पादक जी ने किस लिए इतना परिश्रम किया; किस लिए यह लेख मालिका निकाली, सो बात हमारी समझ में फिर नहीं आई। खैर, कुछ तो आप ने समझा ही होगा। सम्भव है, हम आपके मतलब को न समझे हों। पर एक प्रार्थना आप से हमारी है। वह यह कि यदि आप किसी का मत लिखा करें तो ज़रा सावधानी से लिखा करें। कुछ का कुछ न लिख दिया करें। आप की असावधानता के दो एक उदाहरण हम और दिखलाये देते हैं। वे भी अनुवाद सम्बन्धी हैं—

कृष्ण-चरित, सप्तम-परिच्छेद	प्रयाग समाचार का भावार्थ
(१) आर इहाओ सम्भव, ये तांहार (पाणिनिर) अनेक पूर्वइ महाभारत प्रचलित हइयाछिल।	और यह भी सिद्ध हो गया कि उनके (पाणिनि के) बहुत पूर्व से महाभारत प्रचलित था।
(२) अतएव महाभारतेर युद्धेर अनल्प परेइ आदिम महाभारत प्रणीत हइयाछिल बलियाये प्रसिद्धि आछे। ताहार उच्छेद करिबार कोन कारण देखाय न।	इससे अब सिद्ध हो गया कि महाभारत युद्ध के थोड़े ही पीछे जो आदि महाभारत बना कर शामिल करने का दोष दिया जाता है इसके खण्डन की अब कोई आवश्यकता नहीं।
(३) अतएव महाभारतेर प्राचीनता सम्बन्धे बड़ गोलयोग करार कहारओ अधिकार नाइ।	अतएव महाभारत की प्राचीनता में हस्तक्षेप करने का किसी को अधिकार नहीं है।

यहाँ पर पहले अवतरण में जल्दी या असावधानता के कारण "सम्भव" शब्द का अर्थ "सिद्ध हो गया" कर दिया गया। सम्भव और सिद्ध होने में कितना अन्तर है, इसके बतलाने की जरूरत नहीं। दूसरे अवतरण का हिन्दी भावार्थ हमारी समझ में बिल्कुल ही नहीं आया। बँगला वाक्य का मतलब है—"अतएव जो यह प्रसिद्धि है कि महाभारत—युद्ध के कुछ ही पीछे आदिम महाभारत की रचना हुई थी उसके उच्छेद, अर्थात् खण्डन, का कोई कारण नहीं देख पड़ता।" अनुवाद में "महाभारत बना

कर शामिल करने का दोष" कहाँ से आया, नहीं मालूम। और वाक्य सार्थक भी तो होना चाहिये। तीसरे अवतरण में "गोलयोग।" का अर्थ हस्तक्षेप भी जल्दी में लिख दिया गया है। हस्तक्षेप की जगह "गोलमाल" शब्द आता तो वह मूलार्थ का अधिक बोधक होता। हस्तक्षेप और गोलमाल में फ़र्क़ है।

[जून १९०५

८—विक्रम-संवत्

हमारे समान इतर साधारण जनों का विश्वास है कि प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य मालवा देश के अधीश्वर थे। धारा नगरी उनकी राजधानी थी। विद्वानों और कवियों के वे बड़े भारी आश्रयदाता थे। स्वयं भी कवि थे। शकों, अर्थात् सीदियन ग्रीक लोगों, को उन्होंने बहुत बड़ी हार दी थी। इसीसे वे शकारि कहलाते हैं। इसी जीत के उपलक्ष्य में उन्होंने अपना संवत् चलाया, जिसे १९६७ वर्ष हुए। इस हिसाब से विक्रमादित्य का समय ईसा के ५७ वर्ष पहले सिद्ध होता है।

परन्तु इस परम्परा-प्राप्त जनश्रुति या विश्वास को कितने ही प्रत्न-विद्या-विशारद विश्वसनीय नहीं समझते। डाक्टर फ्लीट, हार्नली, कीलहार्न, बूलर और फर्गुसन आदि विदेशी और डाक्टर भाण्डारकर, भाऊ दाजी आदि स्वदेशी विद्वान् ऐसे ही विद्या-विशारदों की कक्षा के अन्तर्गत हैं। इस अविश्वसनीयता का कारण सुनिए—

डाक्टर कीलहार्न के मन में, नाना कारणों से, विक्रम-संवत् के विषय में एक कल्पना उत्पन्न हुई। इस बात को हुए कई वर्ष हुए। उन्होंने एक लम्बा लेख लिखा। वह "इंडियन एंटिक्वेरी" के कई अंकों में लगातार प्रकाशित हुआ। उसमें उन्होंने यह सिद्ध

करने की चेष्टा की कि इस संवत् का जो नाम इस समय है वह आरम्भ में न था पहले वह मालव-संवत् के नाम से उल्लिखित होता था। अनेक शिलालेखों और ताम्र-पत्रों के आधार पर उन्होंने यह दिखाया कि ईसा के सातवें शतक के पहले लेखों और पत्रों में इस संवत् का नाम मालवसंवत् पाया जाता है। उनमें अंकित 'मालवानां गणस्थित्या' पद का अर्थ उन्होंने लगाया—मालव-देश की गणना का क्रम। और यह अर्थ ठीक भी है। कीलहार्न की इस गवेषणा का निष्कर्ष निकला कि सातवें शतक के बाद विक्रम-संवत् का नाम मिलता है, उसके पहले नहीं। पहले तो "मालवानां गणस्थित्या" की सब कहीं दुहाई है। अच्छा तो इस मालव-संवत् का नाम विक्रम-संवत् किसने कर दिया, कब किया और किस कारण किया। डाक्टर कीलहार्न का कथन है कि ईसा के छठे शतक में यशोधर्म्मन नाम का एक प्रतापी राजा मालवा में राज्य करता था। उसका दूसरा नाम हर्षवर्धन था। उसने ५४४ ईसवी में हूणों के राजा मिहिरकुल को मुलतान के पास, करूर में, परास्त करके हूणों का बिलकुल ही तहस-नहस कर डाला। उनके प्रभुत्व और बल का उसने प्रायः समूल उन्मूलन कर दिया। इस जीत के कारण उसने विक्रमादित्य-उपाधि ग्रहण की। तब से उसका नाम हर्षवर्धन विक्रमादित्य पड़ा। इसी जीत की खुशी में उसने पुराने प्रचलित मालव-संवत् का नाम बदल कर अपनी उपाधि के अनुसार उसे विक्रम-संवत् कहे जाने की घोषणा की। साथ ही उसने एक बात और भी

की। उसने कहा, इस संवत् को ६०० वर्ष का पुराना मान लेना चाहिए, क्योंकि नये किंवा दो तीन वर्ष के पुराने संवत् का उतना आदर न होगा। इसलिए उसने ५४४ में ५६ जोड़कर ६०० किये। इस तरह उसने इस विक्रम-संवत् की उत्पत्ति ईसा के ५६ या ५७ वर्ष पहले मान लेने की आज्ञा लोगों को दी।

इस कल्पना के आधार पर विक्रमादित्य ईसा की छठी शताब्दी में हुए माने जाने लगे और उसके साथ महाकवि कालिदास भी खिँचकर ६०० वर्ष इधर आ पड़े। इस कल्पना के सम्बन्ध में आज तक सैकड़ों लेख लिखे गये हैं। कोई इसे ठीक मानता है, कोई नहीं मानता। कोई इसके कुछ अंशों को ठीक समझता है, कोई कुछ को।

डाक्टर कीलहार्न तो इस कल्पना के जनक ही ठहरे। डाक्टर हार्नली भी इसे मानते हैं। विन्सेंट स्मिथ साहब और डाक्टर भाण्डारकर कहते हैं कि मालव-संवत् का नाम विक्रम-संवत् में बदल जरूर गया, पर बदलने वाला गुप्तवंशी राजा चन्द्रगुप्त प्रथम था। डाक्टर फ्लीट का मत है कि विक्रम-संवत् का चलाने वाला राजा कनिष्क था। इसी तरह ये विद्वान् अपनी अपनी हाँकते हैं। एक मत होकर सब ने किसी एक कल्पना को निर्भ्रान्त नहीं माना और न इस बात के माने जाने के अब तक कोई लक्षण ही देख पड़ते हैं।

राय बहादुर सी० वी० वैद्य, एम० ए०, एल०-एल० बी० ने इस विषय में एक बहुत ही युक्तिपूर्ण लेख लिखा है। उनका लेख

प्रकाशित हुए कुछ समय हुआ। उन्होंने पूर्वोक्त कल्पनाओं को निःसार सिद्ध करके यह दिखलाया है कि विक्रमादित्य नाम का एक राजा ईसा के ५७ वर्ष पहले जरूर था। उसने अपने नाम से यह संवत् चलाया। हमने इस विषय के जितने लेख पढ़े हैं सब में वैद्य महाशय का लेख हमें अधिक मनोनीति हुआ और अधिक प्रमाण तथा युक्तिपूर्ण भी मालूम हुआ। अतएव उनके कथन का सारांश हम नीचे देते हैं।

इस संवत् के सम्बन्ध में जितने वाद-विवाद और प्रतिवाद हुए हैं, सब का कारण डाक्टर कीलहार्न का पूर्वोक्त लेख है। यदि वे यह साबित करने की चेष्टा न करते कि मालव-संवत का नाम पीछे से विक्रम-संवत् हो गया तो पुरातत्ववेत्ता इस बात की खोज के लिए आकाश-पाताल एक न कर देते कि इस संवत्सर का नाम किसने बदला, क्यों बदला और कब बदला। जिन लेखों और ताम्र-पत्रों के आधार पर डाक्टर साहब ने पूर्वोक्त कल्पना की है उनके अस्तित्व और प्रमाणिकत्व के विषय में किसी को कुछ संदेह नहीं। सन्देह इस बात पर है कि पुराने ज़माने के शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों में "मालवानां गणस्थित्या" होने ही से क्या यह सिद्ध माना जा सकता है कि इस संवत् का कोई दूसरा नाम न था? इसका कोई प्रमाण नहीं कि जिस समय के ये लेख और पत्र हैं उस समय के कोई और लेख या पत्र कहीं छिपे हुए नहीं पड़े जिनमें यही संवत् विक्रमसंवत् के नाम से उल्लिखित हो? इस देश की सारी पृथ्वी तो खान डाली गई

नहीं और न सारे पुराने मकान, मन्दिर, खंडहर आदि ही ढूंढ़ डाले गये। इस संवत् के प्रचारक मालवा देशवासी हो सकते हैं। पर इससे क्या यह अर्थ निकाला जा सकता है कि मालवा के किसी एक मनुष्य ने किसी घटना विशेष के उपलक्ष्य में यह संवत् नहीं चलाया? यह कोई असंभव बात तो मालूम होती नहीं। देश-वासियों के नाम से प्रसिद्ध हुआ संवत् भी किसी विशेष पुरुष के द्वारा, किसी बहुत बड़े काम की यादगार में, चलाया जा सकता है। रोमन संवत् रोम-निवासियों के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु वह रोम-नगर की नींव डालने की घटना-विशेष की याद-गार में चलाया गया था। इसी तरह मालव-संवत् का भी किसी एक मनुष्य के द्वारा, किसी विशेष घटना के कारण, चलाया जाना सर्वथा संभव है। मालवा में मालव लोग बहुत पुराने जमाने से रहते थे। गौतम बुद्ध के समय से तो उनका नाम-निर्देश साफ़ तौर पर किया जाता है. पर उस जमाने में मालव-संवत् का प्रचार न था। उसका अस्तित्व ही न था। इस संवत् की उत्पत्ति ईसा के ५७ वर्ष पहले हुई मानी जाती है। इससे यह देखना चाहिये कि उस समय मालवा में कोई बहुत बड़ी घटना हुई थी या नहीं और विक्रमादित्य नाम का कोई राजा वहां था या नहीं।

जिन ताम्र-पत्रों के आधार पर डाक्टर कीलहार्न ने अपने कल्पना का मन्दिर खड़ा किया है उनमें से एक बहुत पुराने पत्र में 'मालवेश' शब्द आया है। यह शब्द इसी मालव-संवत् के सम्बन्ध में है। इससे यह सूचित है कि इसमें संवत्सर के प्रवर्तक

राजा का नाम नहीं है। तथापि वह संवत् किसी राजा का चलाया हुआ जरूर है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस ताम्र-पत्र के खोदने या खुदवाने वालों को उस राजा का नाम न मालूम था। जैसे शक-संवत् का प्रयोग करने वाले उसके प्रवर्तक का नाम सदा नहीं देते वैसे ही, जान पड़ता है, इस संवत् के प्रवर्तक का नाम उन पुराने शिलालेखों और ताम्रपत्रों में नहीं दिया गया, केवल मालव-संवत् या मालवेश-संवत् दिया गया है। पर इससे यह कहां सिद्ध होता है कि इसका प्रवर्तक कोई राजा या पुरुष-विशेष न था। मालव-निवासियों के एक देश या स्थान छोड़ कर अन्य देश या स्थान में जा बसने की किसी घटना का कुछ पता नहीं। न उनके किसी प्रसिद्ध नगर या इमारत बनाने की किसी घटना का कहीं कोई उल्लेख है। न उनके द्वारा की गई किसी और ही बड़ी बात का कोई प्रमाण है। फिर मालव-निवासियों के द्वारा इस संवत् का चलाया जाना क्यों माना जाय? 'मालवेश' का अर्थ क्या मालव-देश के राजा के सिवा और कुछ हो सकता है?

जरा देर के लिए मान लीजिये कि उसका आदिम नाम मालव संवत् ही था। अच्छा तो इस नाम को बदल कर कोई विक्रम संवत् करेगा क्यों? कोई भी समझदार आदमी दूसरे की चीज का उल्लेख अपने नाम से नहीं करता। किसी विजेता राजा के दूसरे के चलाये संवत् को अपना कहने में क्या कुछ भी लज्जा न मालूम होगी? वह अपना एक नया संवत् सहज ही में चला सकता है। किसी के संवत् का नाम बदल कर उसे अपने नाम से

चलाना और फिर उसे ६०० वर्ष पीछे फेंक देना बड़ी ही अस्वाभाविक बात है। भारतवर्ष का इतिहास देखने से मालूम होता है कि जितने विजेता राजों ने संवत् चलाया, सब ने नया संवत्, अपने ही नाम से, चलाया है। पुराणों और भारतवर्ष की राजनीति-सम्बन्धिनी प्राचीन पुस्तकों में इस बात की साफ़ आज्ञा है कि बड़े बड़े नामी और विजयी नरेशों को अपना नया संवत् चलाना चाहिए। युधिष्ठिर, कनिष्क, शालिवाहन और श्रीहर्ष आदि ने इस आज्ञा का पालन किया है। शिवाजी तक ने अपना संवत् अलग चलाने की चेष्टा की है। अतएव दूसरे के संवत् को अपना बनाने की कल्पना हास्यास्पद और सर्वथा अस्वाभाविक है। अपना संवत् चलाने की अपेक्षा दूसरे के संवत् को अपना बनाना बहुत कठिन है। संवत् चलाने वाले का एक मात्र उद्देश यह रहता है कि उसके द्वारा उसका नाम चले और जिस उपलक्ष्य में संवत् चलाया गया हो उसकी याद लोगों को बनी रहे। साथ ही उस स्मरणीय घटना का काल भी लोगों को न भूले। इन सब बातों पर ध्यान देने से यही कहना पड़ता है कि जो विद्वान यशोधर्म्मन् को मालव-संवत् का नाम बदलने वाला समझते हैं, उन्होंने बिना पूर्वापर विचार किये ही ऐसा समझ रखा है।

डाक्टर भाण्डारकार कहते हैं कि गुप्तवंशी राजा प्रथम चन्द्रगुप्त ने पहले पहल अपना नाम विक्रमादित्य रक्खा और उसी ने मालव-संवत् का नाम, अपने नामानुसार, बदल कर विक्रम-संवत् कर दिया। परन्तु इस बात पर विश्वास नहीं होता, इसलिए कि

गुप्तवंशी राजों ने अपना संवत् प्रथम चन्द्रगुप्त के बहुत पहले ही चला दिया था। अतएव अपने पूर्वजों के चलाये हुए संवत् का तिरस्कार करके मालव-देश के संवत् को चन्द्रगुप्त क्यों अपने नाम से चलाने लगा। फिर एक बात और भी है। चन्द्रगुप्त के सौ वर्ष पीछे के ताम्रपत्रों में भी मालव-संवत् का उल्लेख मिलता है। यदि चन्द्रगुप्त उसका नाम बदल देता तो फिर क्यों कोई मालव-संवत् का उल्लेख करता। अतएव इस तरह की कल्पना विश्वास योग्य नहीं।

यशोधर्म्मन् का जो एक शासनपत्र मिला है उसमें उस बेचारे ने न तो कोई संवत् चलाने की बात कही है, न विक्रमादित्य-उपाधि ग्रहण करने ही की बात कही है, और न मालव-संवत् का नाम बदलने ही की चर्चा की है। उसने सिर्फ इतनी बात कही है कि मेरे राज्य का विस्तार गुप्त-नरेशों के राज्य-विस्तार से अधिक है। वह गुप्त-नरेशों के प्रभुत्व को अपने प्रभुत्व से बहुत अधिक समझता था। इसीलिए उसने इस शासनपत्र द्वारा यह सूचित किया कि अब मेरा राज्य गुप्तों के राज्य से कम नहीं, किन्तु अधिक है। अर्थात् अब मैं उनसे भी बड़ा राजा हूँ। यदि उसने मालव-संवत् का नाम विक्रम-संवत् में बदला होता तो वह इस बात को जरूर कहता कि गुप्तों की तरह मैंने भी संवत् चलाया है। परन्तु उसने यह कुछ भी नहीं किया। अतएव यह युक्ति, यह तर्कना, यह कल्पना भी सब तरह निःसार जान पड़ती है।

यहाँ तक जिन बातों का विचार हुआ उससे यही मालूम

होता है कि ईसा के ५७ वर्ष पहले विक्रमादित्य नाम का कोई राजा जरूर था। उसीने विक्रम-संवत् चलाया। यह मालव-देश का राजा था इसीलिए शुरू शुरू के शिलालेखों और ताम्रपत्रों में यह संवत् मालव-संवत् के नाम से भी अभिहित हुआ है। अब यदि उस समय विक्रमादित्य के अस्तित्व का कोई प्रमाण मिल जाय तो उसके विषय में की गई बहुत सी शंकाओं के लिए जगह ही न रहे।

पुरातत्ववेत्ता ईसा के पूर्व पहले शतक में किसी विक्रमादित्य का होना मानने में बेतरह संकोच करते हैं। इसलिए कि उस समय का न तो कोई ऐसा सिक्का ही मिला है जिसमें उस राजा का नाम हो, न कोई शिलालेख ही मिला है, न कोई ताम्रपत्र ही मिला है। परन्तु उनकी यह युक्ति बड़ी ही निर्बल है। तत्कालीन प्राचीन इतिहास में उस राजा के नाम का न मिलना उसके अन-स्तित्व का बोधक नहीं माना जा सकता। पुराने जमाने के सारे ऐतिहासिक लेख प्राप्त हैं कहाँ? यदि वे सब प्राप्त हो जाते और उनमें विक्रमादित्य का नाम न मिलता तो ऐसी शङ्का हो सकती थी। पर बात ऐसी नहीं है। विक्रमादित्य का नाम जरूर मिलता है। दक्षिण में शालवाहन-वंशीय हाल नामक एक राजा हो गया है। विन्सेंट स्मिथ साहब ने उसका समय ६८ ईसवी निश्चित किया है। इस हाल ने गाथा-सप्तशती नाम की एक पुस्तक प्राचीन महाराष्ट्र भाषा में लिखी है। उसके पैंसठवें पद्य का संस्कृत-रूपा-न्तर इस प्रकार है—

संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लक्षम् ।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः ॥

इस पद्य में विक्रमादित्य की उदारता का वर्णन है। उसके द्वारा एक लाख रुपये दिये जाने का उल्लेख है। इससे इस बात का पूरा प्रमाण मिलता है कि हाल-नरेश के पहले विक्रमादित्य नाम का दानशील राजा कोई जरूर था। अब इस बात का विचार करना है कि इस राजा ने शकों का पराभव किया था या नहीं? इसका शकारि होना यथार्थ है या अयथार्थ?

डाक्टर हार्नली और कीलहार्न आदि का ख्याल है कि मुल्तान के पास करूर में यशोधर्म्मन् ही ने मिहिरकुल को, ५४४ ईसवी में, परास्त किया था। पर इसका कोई प्रमाण नहीं। यह सिर्फ़ इन विद्वानों का खयाली पुलाव है, और कुछ नहीं। उन्होंने अल्बे-रूनी के लेखों का जो प्रमाण दिया है उनसे यह बात कदापि सिद्ध नहीं होती। अल्बेरूनी के लेख का पूर्वापर-विचार करने से यह मालूम होता है कि उसके मत से पूर्वोक्त करूर का युद्ध ५४४ ईसवी के बहुत पहिले हुआ था। अतएव इस बात को मान लेने में कोई बाधा नहीं कि विक्रमादित्य ही ने इस युद्ध में शकों को परास्त किया था। इस विजय के कारण वह शकारि नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी समय से और इसी उप-लक्ष्य में उसने अपने नाम से विक्रम-संवत् चलाया। यह जीत बहुत बड़ी थी। इसी कारण इसके अनन्तर शकों और अन्यान्य म्लेच्छों का पराभव करने वाले राजों ने विक्रमादित्य उपाधि

धारण करना अपने लिए गर्व की बात समझा। तब से विक्रमादित्य एक प्रकार की उपाधि या पदवी हो गई।

कल्हण ने राजतरंगिणी में विक्रमादित्य-विषयक भूलें की हैं। हर्ष-विक्रमादित्य और शकारि-विक्रमादित्य, दोनों को गड़बड़ कर दिया है। डाक्टर स्टीन आदि विद्वानों ने इस बात को अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दिया है। पुरातत्वज्ञ पंडित कल्हण की इन भूलों को बिना किसी सोच विचार के भूलें कहते हैं। कल्हण के वर्णन से स्पष्ट है कि काश्मीर के इतिहास का सम्बन्ध दो विक्रमादित्यों से रहा है। एक मातृगुप्त को भेजने वाले हर्ष विक्रमादित्य से, दूसरे प्रतापादित्य के सम्बन्धी शकारि विक्रमादित्य से। इनमें से हर्ष-विक्रमादित्य ईसा की छठी शताब्दी के प्रथमार्द्ध में विद्यमान था। रहा शकारि विक्रमादित्य। सो वह हाल की सप्तशती में वर्णन किये गये विक्रमादित्य के सिवा और कोई नहीं हो सकता। ईसा के पूर्व, प्रथम शतक में, शकों का पराभव करने वाला वही था। इसका एक और प्रमाण लीजिए :—

विन्सेंट स्मिथ साहब ने अपने प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में लिखा है कि शक-जाति के म्लेच्छों ने ईसा के कोई १५० वर्ष पहले उत्तर-पश्चिमाञ्चल से इस देश में प्रवेश किया। उनकी दो शाखायें हो गईं। एक शाखा के शकों ने तक्षशिला और मथुरा में अपना अधिकार जमाया और क्षत्रप नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके सिक्कों से उनका पता ईसा के १०० वर्ष पहले तक चलता है। उसके पीछे उनके अस्तित्व का कहीं पता नहीं लगता। दूसरी

शाखा वालों ने ईसा की पहली शताब्दी में काठियावाड़ को अपने अधिकार में किया। धीरे धीरे इन लोगों ने उज्जैन को भी अपने अधीन कर लिया। इन्हें गुप्तवंशी राजा ने हरा कर उत्तर की ओर भगा दिया। अच्छा, तो इनके पराजयकर्त्ता तो गुप्त हुए। पहली शाखा के शकों का विनाश किसने साधन किया। क्या बिना किसी के निकाले ही वे इस देश से चले गये? अपना राज अपना अधिकार—क्या कोई यों ही छोड़ देता है? उनका पता पीछे से ऐतिहासिक लेखों से चलता क्यों नहीं? इसका क्या इसके सिवा और कोई उत्तर हो सकता है कि ईसा के ५७ वर्ष पहले विक्रमादित्य ही ने उन्हें नष्ट-विनष्ट करके इस देश से निकाल दिया? इसी विजय के कारण उसको शकारि-उपाधि मिली और संवत् भी इसी घटना की याद में उसने चलाया। मुल्तान के पास करूर वाला युद्ध इन्हीं तक्षशिला और मथुरा के शकों और विक्रमादित्य के मध्य हुआ था। इसके सिवा इसका अब और क्या प्रमाण चाहिए?

इस पर भी शायद कोई यह कहे कि यह सब सही है। पर कोई पुराना शिलालेख लाओ, कोई पुराना सिक्का लाओ, कोई पुराना ताम्रपत्र लाओ जिसमें विक्रम-संवत् का उल्लेख हो। तब हम आप की बात मानेंगे, अन्यथा नहीं। खुशी की बात है कि इस तरह का एक प्राचीन लेख भी मिला है। वह पेशावर के पास तख्तेबाही नामक स्थान में प्राप्त हुआ है। इसलिए उसी के नाम से वह प्रसिद्ध है। यह उत्कीर्ण लेख पार्थियन राजा गुडूफर्स

के समय का है। यह राजा भारत के उत्तर-पश्चिमाञ्चल का स्वामी था। इस लेख में १०३ का अङ्क है, पर संवत् का नाम नहीं। गुडूफर्स के सिंहासन पर बैठने के छब्बीसवें वर्ष का यह लेख है। डाक्टर फ्लीट और मिस्टर विन्सेंट स्मिथ ने अनेक तर्कनाओं और प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि यह १०३ विक्रम-संवत् का सूचक है। राजा गुडूफर्स का नाम यहूदियों की एक पुस्तक में आया है। यह पुस्तक ईसा के तीसरे शतक की लिखी हुई है। इससे, और इस सम्बन्ध के और प्रमाणों से, यह निःसंशय प्रतीत होता है कि विक्रम-संवत् का प्रचार ईसा के तीसरे शतक के पहले भी था और मालवा ही में नहीं, किन्तु पेशावर और काश्मीर तक में इसका व्यवहार होता था। इस पर भी यदि कोई इस संवत् का प्रवर्तक मालवाधिपति शकारि विक्रमादित्य को न माने और उसकी उत्पत्ति ईसा के छठे शतक में हुई बतलाने की चेष्टा करे तो उसका ऐसा करना हठ और दुराग्रह के सिवा और क्या कहा जा सकता है।

[सितम्बर १६११

१—पुराणों की प्राचीनता

जनवरी १९१२ के "माडर्न रिव्यू" में वी० सी० मजूमदार महाशय का लिखा हुआ एक लेख, पुराणों के विषय में, प्रकाशित हुआ है। उसका भावार्थ, संक्षेप में, नीचे दिया जाता है।

संस्कृत में और उससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य भारतीय भाषाओं में "पुराण" शब्द का अर्थ पुरातन है। जब इस शब्द का व्यवहार संज्ञा की भांति किया जाता है तब इससे उन धार्मिक ग्रन्थों का मतलब लिया जाता है, जिनमें प्राचीन समय के देवताओं, राजों और महापुरुषों की कीर्ति का वर्णन है। "पुराण" शब्द नया नहीं है; वह वेदों में भी पाया जाता है। वहां भी उसका वही अर्थ है जो उसके संज्ञा-रूप का होता है। अथर्व-वेद के ग्यारहवें काण्ड के सातवें सूक्त में यह शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है। इससे पुराणों की प्राचीनता प्रकट होती है। पौराणिक साहित्य उतना ही प्राचीन और पुनीत है जितने कि वैदिक मन्त्र, जैसा कि आगे चल कर प्रमाणित किया जायगा।

यज्ञ में वेद-मन्त्रों का काम पड़ता है; परन्तु कौन मन्त्र किस समय और किस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए, इन बातों का जिक्र वेदों में कहीं नहीं। साम, ऋक् और अथर्व-वेद में केवल मन्त्र ही मन्त्र हैं। हां यजुर्वेद में अवश्य यज्ञ करने और मन्त्र

पढ़ने की प्रणाली का कुछ वर्णन है। पर मन्त्रों के महत्त्व और यज्ञों के विधानों का पूरा पूरा वर्णन ब्राह्मण-ग्रंथों ही में है। उन ग्रन्थों से मालूम होता है कि अमुक देवता की किस समय और किस मन्त्र से प्रार्थना करनी चाहिए; अमुक मंत्र का कर्ता कौन ऋषि है; पूर्व समय में कब और कौन मन्त्र से कौन यज्ञ किया गया और क्या फल हुआ; और किस मन्त्र का उच्चारण किस प्रकार किया जाना चाहिए, इत्यादि। केवल मूल मन्त्र जान लेने से विशेष लाभ नहीं; मन्त्रों के देवता और उनकी प्रक्रिया का भी जानना आवश्यक है। इस बात का जानना तो सब से अधिक आवश्यक है कि अमुक मन्त्र की उत्पत्ति का इतिहास क्या है और पूर्व काल में उसके पाठ से क्या क्या लाभ हुए थे। अध्यापक लेनमन ने अथर्ववेद का एक बड़ा अच्छा संस्करण प्रकाशित किया है। उसमें इस बात का भी उल्लेख है कि कौन सूक्त किस कामना को पूर्ण करने के लिए पढ़ना चाहिए। ब्राह्मण ग्रन्थ तो इन्हीं बातों से भरे पड़े हैं। ऋग्वेद के सब मन्त्रों के इतिहास का वर्णन बृहद्देवता नामक ग्रन्थ में है। इस ग्रन्थ के चौथे अध्याय में लिखा है कि दीर्घात्मा नामक एक व्यक्ति जन्म ही से अन्धा था। ऋग्वेद के प्रथम काण्ड के कुछ सूक्तों के पारायण से उसे फिर दृष्टि प्राप्त हो गई। वेद-मंत्रों का इस प्रकार का इतिहास, उनके उच्चारण की विधि और उनके फल का निर्देश, यह सारा विषय-समुदाय, पूर्वकाल में, पुराण या पुराणेतिहास के नाम से उल्लिखित था।

वर्तमान काल में, यज्ञ करते समय, मन्त्रों के इतिहास (पुराण) सुनाने की रीति नहीं; परन्तु महाभारत के समय तक वेद-मन्त्रों के कीर्ति-गान की प्रथा प्रचलित थी। इस काम का भार पौराणिकों पर था। उदाहरण के लिए महाभारत की भूमिका देखिए, जहाँ पर पौराणिक उग्रश्रवा, यज्ञ करते समय, ऋषियों से यह पूछते हैं कि क्या आप लोग इतिहास सुनने के लिए तैयार हैं—

कृताभिषेकाः शुचयः कृतजप्याहुताग्नयः।
भवन्त आसने स्वस्थाः ब्रवीमि किमहं द्विजाः ?॥

महाभारत की इस भूमिका में नीचे दिया गया श्लोकार्द्ध भी है, जिससे प्रकट होता है कि वेद-मंत्रोच्चारण के समय पुराणेतिहास का वर्णन आवश्यक था—

इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

प्रसिद्ध है कि कलियुग के आरम्भ में भगवान् व्यास ने वेद-मन्त्रों को यथाक्रम सजा कर उन्हें वर्तमान रूप में परिणत किया। यहां पर इस बात के विचार की आवश्यकता नहीं कि किस समय और किस हिसाब से किसने वेदों को विभक्त किया। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उस समय वह भाग, जो इतिहास-पुराण के नाम से प्रसिद्ध था, वेदों से पृथक् कर दिया गया। तभी आधुनिक पुराणों का जन्म हुआ समझना चाहिए।

शतपथ-ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक और उपनिषदों से विदित होता है कि प्राचीन समय में ब्राह्मण लोग भी इतिहास-

पुराण का अध्ययन बड़ी श्रद्धा और रुचि से करते थे। छान्दोग्य-उपनिषद् में लिखा है—

ऋग्वेदोयजुर्वेदः सामवेद अथर्वणश्चतुर्थ—
इतिहास-पुराणः पञ्चमा वेदानां वेदः।

इसके अनुसार अथर्व-वेद चौथा वेद और इतिहास-पुराण पाँचवाँ है। भारतीय युद्ध के बाद इतिहास-पुराण के कुरु-पाण्डवों की कथा से मिला कर महाभारत पञ्चम वेद के नाम से विख्यात हुआ है।

आधुनिक पुराणों में बहुत से राजवंशों, राजों और देवताओं आदि का वर्णन है। वैदिक पुराणों में भी केवल वेद-मन्त्रों ही का इतिहास न था। महाभारत में, जहां पुराणों का वैदिक श्रुतियों से घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है, इस प्रकार के कितने ही लेख पाये जाते हैं—

(१) "मया श्रुतिमिदं पुराणे पुरुषर्षभ"।

(२) "अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्"।

(३) "श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी"।

अथर्व-वेद के अन्तिम शूक्तों से भी प्रकट होता है कि पुराणेतिहास में केवल देवताओं ही का इतिहास नहीं; किन्तु मनुष्यों का भी इतिहास रहता था। उसमें जगत् की उत्पत्ति, मनुष्य की उत्पत्ति और मन्वन्तर आदि के वर्णन के साथ ही साथ, आदर्श राजों और बड़े बड़े राजवंशों का भी वर्णन रहता था। पुराणों में जहाँ जहाँ "पुराण" शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ वहाँ इस

शब्द से तात्पर्य ऐसी सभी बातों से है। वायु-पुराण में पुराण की यह परिभाषा दी गई है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितश्चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

महाभारत से भी इसी मत की पुष्टि होती है। मेगास्थनीज़ के लेखों से भी विदित होता है कि उस समय हमारी जिन पुस्तकों में सृष्टि की उत्पत्ति आदि का हाल था उन्हीं में बड़े बड़े राज-वंशों, राजों और देश का इतिहास भी था। पाटलीपुत्र में उसने सर्ग-प्रतिसर्ग तथा भारत की अन्य ऐतिहासिक घटनाओं के हाल हिन्दुओं के साथ ही सुना था।

कुछ लोग जब तक किसी बात का वर्णन प्राचीन पुस्तकों में नहीं देखते तब तक उसकी प्राचीनता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते। "पुराण" शब्द अथर्व-वेद और शतपथ-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में तो पाया जाता है, परन्तु पाणिनि के किसी सूत्र में इसका पता नहीं लगता। परन्तु इससे पुराणों की अर्वाचीनता सिद्ध नहीं होती। पाणिनि ने सारी पुरानी बातों का उल्लेख करने की प्रतिज्ञा थोड़े ही की थी। पुराणों की प्राचीनता ढूँढने के लिए अष्टाध्यायी के सूत्रों की पड़ताल करने की आवश्यकता नहीं। उसमें न सही, उससे भी पुरानी पुस्तकों में तो "पुराण" शब्द है।

इस बात का ठीक ठीक पता नहीं लगता कि महाभारत के परिवर्तित होने के पहले पुराणेतिहास का क्या रूप था और उसकी

क्या दशा थी। सम्भव है, जिस प्रकार प्रत्येक वेद के ब्राह्मण, अनुक्रमणिकायें, उपनिषद् आदि अलग अलग हैं उसी प्रकार प्रत्येक वेद के मन्त्रों की ऐतिहासिक बातों के सूचक पुराणेतिहास भी अलग अलग रहे हों। बृहद्देवता में जिन पुराणों का वर्णन है उनका अर्थ वेदों के मन्त्रों से तो सम्बद्ध है, परन्तु अथर्व-वेद के मंत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं। अथर्व-वेद के मन्त्रों का पुराण भी रहा होगा। प्रत्येक वेद के मन्त्रों का पुराण भी अलग अलग रहा होगा—इस सम्भावना का एक कारण है। शतपथ-ब्राह्मण के ग्यारहवें, आत्रेय ब्राह्मण के पाँचवें, और छान्दोग्य-उपनिषद् के चौथे अध्याय में लिखा है कि जब प्रजापति ने वेदों की प्राप्ति के लिए तप किया तब ऋग्वेद की उत्पत्ति अग्नि से, सामवेद की सूर्य्य से और यजुर्वेद की वायु से हुई। वायु, अग्नि और सूर्य्य के नाम पर तीन आधुनिक पुराण भी हैं। इन तीनों पुराणों का पूर्वोक्त तीनों वेदों से सम्बन्ध होने ही के कारण उनके ये नाम पड़े। यही तीन पुराण महाभारत के पहले रहे होंगे। अन्य आधुनिक पुराणों की उत्पत्ति महाभारत के पीछे हुई जान पड़ती है।

महाभारत के वनपर्व के १९१ वें अध्याय में और उसके अन्तिम पर्व के छठे अध्याय में आधुनिक पुराणों का जिक्र जरूर है; परन्तु उन स्थलों को विचारपूर्वक पढ़ने से स्पष्ट मालूम होता है कि वे प्रक्षिप्त हैं। वनपर्व के १८८ वें अध्याय में ऐसी घटनाओं का वर्णन है जो महाभारत के समय के बहुत पीछे हुई हैं। आगे

चल कर, १५० वें अध्याय में, युधिष्ठिर मार्कण्डेय से पूछते हैं कि कलियुग में क्या होगा ? वे इस प्रश्न को पहले भी पूछ चुके हैं और मार्कण्डेय पूरा पूरा उत्तर भी दे चुके हैं। परन्तु वे उसे फिर पूछते हैं और मार्कण्डेय फिर अपने पूर्व उत्तर को दोहराते हैं। १९१ वें अध्याय में भी वही बातें कही गई हैं जो १९० वें में हैं। इसी अध्याय में यह श्लोक है—

एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं मया।
वायु प्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणं ऋषिसंस्तुतम्॥

कदाचित् यह संकेत यजुर्वेद के किसी पुराण की ओर हो। परन्तु महाभारत में अन्य सब पुराण सम्मिलित हैं और वह पञ्चम वेद कहलाता है। उसमें किसी पुराण का प्रमाण न होना चाहिए। इसी अध्याय में वायुपुराण की भी कुछ बातें उद्धृत हैं, जिनसे मालूम होता है कि किसी ने बहुत पीछे, अपने समय का दिग्दर्शन कराने के लिए, इस ग्रन्थ में कुछ अध्याय बढ़ा दिये हैं। ४९ वें श्लोक में वायु-पुराण का प्रमाण देते हुए कहा गया है कि भविष्यत् में लड़कियां पांच छः वर्ष की उम्र ही में गर्भवती हुआ करेंगी। परन्तु वायुपुराण के ५८ वें अध्याय के ५८ वें श्लोक में लिखा है कि कलियुग में लड़कियां सोलह वर्ष की उम्र के पूर्व ही गर्भवती हुआ करेंगी। उक्त श्लोक दो प्रकार से लिखा जाता है। उसके दोनों रूप ये हैं—

प्रणष्टचेतना: पुंसो मुक्तकेशास्तु चूलिका:।
ऊनषोडशवर्षाश्च प्रजायन्ते युगक्षये॥

दूसरे रूप में "प्रजायन्ते युगान्ते" के स्थान पर "नार्पयन्ति मानवान्" है।

श्लोक का दूसरा पाठान्तर विशेष शुद्ध मालूम होता है। परन्तु श्लोक के दोनों पाठों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि किसी समय भारत में सोलह वर्ष के पूर्व लड़कियों का विवाह न होता था।

महाभारत के अन्तिम पर्व के अन्तिम दो अध्यायों में भी अठारह पुराणों का जिक्र है। महाभारत में कई जगह इस बात का उल्लेख है कि संसार में इतने शास्त्र और इतनी विद्यायें हैं। परन्तु कहीं भी अठारह पुराणों का वर्णन नहीं। अतएव अन्तिम पर्व का छठा अध्याय निःसन्देह प्रक्षिप्त है। इसके पहिले का अर्थात् पांचवा अध्याय भी पीछे से मिला दिया गया है; क्योंकि स्वर्गारोहण तो चौथे ही अध्याय में हो गया था। पांचवें अध्याय में सिवा पहले अध्यायों की बातों के और कुछ नहीं। उदाहरण के लिए पांचवें अध्याय के ६८ वें और ६९ वें श्लोक आदि पर्व के दूसरे अध्याय के ६९५ वें और ६९६ वें श्लोक की केवल नकल है।

जब हम आधुनिक पुराणों को जाँच की कसौटी पर कसते हैं तब मालूम पड़ता है कि सारे पुराण महाभारत के पीछे बने हैं। रहे वैदिक समय के पुराणेतिहास, सो वे कुरु-पाण्डवों की कथा से संयुक्त होकर महाभारत के रूप में परिवर्तित हुए विद्यमान हैं। एक भी आधुनिक पुराण महाभारत के पहले का नहीं।

पुराण वैदिक समय में भी थे। उस समय भी वे इतिहास-संयुक्त थे। पीछे से उन्हें पञ्चम वेद, महाभारत का रूप, प्राप्त हुआ। इन बातों का वर्णन हो चुका। अब हम आधुनिक पुराणों की ओर झुकते हैं। आधुनिक पुराण सन् ईसवी से १४० वर्ष पूर्व के नहीं। व्याकरण-महाभाष्य की रचना भी उसी समय की है। मनु-संहिता उससे भी पीछे की है। इन दोनों पुस्तकों में दुर्गा गणेश, महादेव आदि देवताओं का कहीं भी ज़िक्र नहीं। आधुनिक पुराणों में बहुत सी वैदिक कथायें हैं। परन्तु उनका रूप तोड़ मरोड़ कर कुछ का कुछ कर दिया गया है। बहुत सी कथायें नई भी हैं; उनमें नये नये राजवंशों और राजों का वर्णन है। पूर्व-काल के राजों के बल-विक्रम और गौरव की कथायें लोग पुराणों में सुनते थे। इस कारण, समय समय पर, पुराणों की भाषा में भी परिवर्तन होता रहा है। जैसे जैसे आर्य-सभ्यता भारत में फैलती गई वैसे ही वैसे नये नये प्रदेश, नदी, पहाड़ और अन्य स्थानों के नाम पुराणों में आते गये। आधुनिक और वैदिक पुराणों में और भी कई प्रकार का भेद है। इन बातों पर विचार करने से प्रकट होता है कि आधुनिक पुराण बहुत प्राचीन नहीं है। परन्तु एक बात अवश्य है। आधुनिक पुराणों में, एक बार बन जाने पर, उसके बाद विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। आधुनिक पुराणों में वैदिक समय के राजों और राजवंशों के नाम वैसे ही पाये जाते हैं जैसे कि वैदिक पुराणों में हैं। मत्स्य-पुराण में जहां इक्ष्वाकु-वंश का वर्णन है वहां लिखा है—

अत्राणु-वंशश्लोऽथ विप्रैर्गीतः पुरातनैः ।
इक्ष्वाकूनामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति ॥

इसी तरह अन्य पुराणों में राजों और राजवंशों का जो वर्णन है वह काल्पनिक नहीं। उनमें उल्लिखित राज-वंशों द्वारा प्राचीन राजों के काल-निरूपण में बड़ी सहायता मिल सकती है। पुराणों के राजवंश और तत्सम्बन्धी घटनायें इतिहास-प्रेमियों के बड़े काम की हैं।

पुराणों में गुप्तवंश के महाराजों तक ही का हाल मिलता है। इसलिए कुछ लोगों का खयाल है कि पुराण गुप्त राजों के समय में बनाये गये। परन्तु बात ऐसी नहीं। पांचवीं शताब्दी के अंत में गुप्तवंश हूण लोगों के आक्रमण से नष्ट हो गया। गुप्त-वंश के बाद भारत में कोई साम्राज्य न रह गया। केवल छोटे छोटे बहुत से राज्य हो गये। देश में कोई साम्राज्य न रहने के कारण पुराणों में अन्य राजवंशों का नाम नहीं आया। गुप्तवंश के बहुत पूर्व भी भारत में कोई साम्राज्य न था। देश में अनेक छोटे-मोटे राज्य थे। पर उन राजवंशों की कीर्ति का वर्णन पुराणों में है। गुप्तवंश के बाद राजों की कीर्ति का वर्णन करने वालों की कमी भी न थी। पांचवीं शताब्दी के बाद यद्यपि पुराणों में किसी बड़े वंश या साम्राज्य का उल्लेख नहीं, तथापि बहुत से ऐसे प्रमाण मिलते भी हैं जिनसे प्रकट होता है कि उस समय छोटे छोटे राजों और राज्यों के वर्णन से पुराणों के आकार की अच्छी वृद्धि हुई है। भिन्न भिन्न स्थानों में पुराणों के बढ़ाये जाने का काम हुआ है।

उड़ीसा में ब्रह्मपुराण पढ़ाया गया ; गया में अग्निपुराण में कितने ही अध्याय मिलाये गये, पुष्कर में पद्मपुराण में पुष्कर की कथा और कालिदास-कृत शकुन्तला और रघुवंश के उल्लेख को भी स्थान दिया गया। यह सब मिश्रण तो अवश्य होता रहा, परन्तु पुराणों की उस रचना-शैली में कोई परिवर्तन नहीं किया गया जिसका समय सम्भवतः सन् ईसवी के सौ दो सौ वर्ष पहले का जान पड़ता है।

कर्म-काण्ड के सुभीते के लिए ही वेदों का क्रम-विभाग हुआ। पुराण उनसे पृथक किये गये। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि पुराणों के बनाने वाले व्यास जी ही थे। महाभारत में भी ऐसा नहीं लिखा। महाभारत में केवल इतना ही लिखा है कि व्यास जी ने अपने शिष्यों को पुराण पढ़ाया और इन शिष्यों ने पुराणों की उन्नति की।

अब यदि कुरुपाण्डवों की कथा पृथक् कर दी जाय तो महाभारत ही से पता लगता है कि पुराणों की उत्पत्ति "लोमहर्षण" द्वारा हुई। रही भारतीय कथा; सो उसे व्यास जी के शिष्यों ने रचा।

"लोमहर्षण" शब्द की व्याख्या वायुपुराण में इस तरह की गई है—

लोमानि हर्षयांश्चक्रे श्रोतृणां यत्सुभाषितैः।
कर्म्मणा प्रथितस्तेन लोकेऽस्मिन् लोमहर्षणः॥

इससे मालूम होता है कि पुराण किसी एक व्यक्ति के बनाये

हुए नहीं। "लोमहर्षण" एक जाति थी जो लोगों को कौतूहल-वर्द्धक घटनायें सुनाया करती थी, जिनके श्रवण से शरीर के रोम खड़े हो जाते थे।

पुराण समय समय पर बनाये गये, यह बात पुराणों ही से सिद्ध होती है। जिस क्रम से पुराण बनाये गये हैं उस क्रम का वर्णन प्रायः सभी पुराणों में है। सबसे पहले ब्रह्म-पुराण बना। उसके पीछे (२) पद्म (३) विष्णु (४) वायु (५) भागवत (६) नारद (७) मार्कण्डेय (८) अग्नि (९) भविष्य (१०) ब्रह्म-वैवर्त (११) लिङ्ग (१२) वराह (१३) स्कन्द (१४) वामन (१५) कूर्म (१६) मत्स्य (१७) गरुड़ और सबसे पीछे (१८) ब्राह्माण्डपुराण। सूची सब पुराणों में पीछे से जोड़ दी गई जान पड़ती है।

जो लोग पुराण पढ़ते थे वे सूत कहलाते थे। आधुनिक स्मृतियों में सूतों और मागधों का स्थान बहुत नीचा कर दिया गया है। वायु-पुराण में लिखा है कि सूत को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं परन्तु महाभारत की भूमिका में जिन सूतों का नाम है वे इतने मान्य थे कि ब्राह्मणों तक ने उनकी प्रतिष्ठा की थी। कितने ही पुराणों में वर्णन है कि नारद और मार्कण्डेय के सदृश मुनियों तक ने पुराणेतिहास सुनाकर सूत का काम किया था। वैदिक समय में बड़े बड़े प्रतिष्ठित ब्राह्मण पुराण कहते थे। पीछे से सूत लोग पुराण सुनाकर रुपया कमाने लगे। मालूम होता है कि इसी कारण समाज ने उनको नीचे गिरा दिया। एक कारण और

भी हो सकता है। जब मगध के राजों के हाथ में भारत का साम्राज्य आया तब ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य जातियों ने भी पुराणेतिहास सुनाने का काम अपने हाथ में ले लिया। इसी कारण सूतों की प्रतिष्ठा उतनी न रही जितनी पूर्ववर्ती सूतों की थी। इस समय तो ब्राह्मण ही पुराणपाठी हो रहे हैं।

[अगस्त १९१२

१०—सोम-लता

प्राचीन आर्यों की सब से प्यारी चीज़ सोमलता थी। सोम, सोम-रस, सोम-लता, सोम-सुरा आदि के गुणगान से वैदिक साहित्य भरा पड़ा है। वैदिक समय में सोम-लता और सोम-रस का यज्ञादिक में इतना काम पड़ता था जितना शायद ही और किसी चीज़ का पड़ता रहा हो। सोम-याग, सोम-याजी, सोमपायी आदि शब्द सोम ही की महिमा के सूचक हैं। शुक्ल-यजुर्वेद—संहिता के उन्नीसवें अध्याय मे, जहाँ सौत्रामणी यज्ञ का विधान है, सर्वत्र सोम ही सोम और सुराही सुरा का साम्राज्य देख पड़ता है। उसकी स्तुति, प्रार्थना, प्रशंसा, गुणकीर्तन, पान, विधान आदि के विषय में अनेक मंत्र हैं। ऋग्वेद का नवाँ मण्डल भी सोम-गुण-गान से भरा है। पर यह सोम-लता आज कल ही क्यों, बहुत पहले से अप्राप्य हो रही है। अब जहाँ कहीं यज्ञादि में उसका काम पड़ता है वहाँ उसका स्थान किसी और ही चीज़ को देना पड़ता है।

सुश्रुत ने सोम को एक प्रकार की अमृतात्मक दिव्य ओषधि माना है। उसकी उत्पत्ति, नाम, गुण और सेवन की क्रिया का जो वर्णन सुश्रुत ने किया है, सुनने लायक है। सुश्रुत के कथन का भावार्थ हम नीचे देते हैं—

किसी बहुत पुराने ज़माने में ब्रह्मादिक देवताओं ने सोम नाम का अमृत उत्पन्न किया। क्यों? इसलिए कि लोगों को जरा और मृत्यु का भय न रहे—"जरामृत्युविनाशाय" अर्थात् उसके सेवन से आदमी अजरामर हो जाय। उसका सेवन जरा और मृत्यु के विनाश के लिए है।

सच पूछिए तो सोम-नामक औषधिरूपी अमृत एक ही है, पर स्थान, नाम, आकार और वीर्य के अनुसार वह चौबीस प्रकार का होता है। यथा—(१) अंशुमान् (२) मुञ्जवान् (३) चन्द्रमा (४) रजतप्रभ (५) दूर्वा-सोम (६) कनीयान् (७) श्वेताक्ष (८) कनकप्रभ (९) प्रतानवान् (१०) तालवृन्त (११) करवीर (१२) अंशवान् (१३) स्वयंप्रभ (१४) महासोम (१५) गरुडाहृत (१६) गायत्र्य (१७) त्रैष्टुभ (१८) पांक्त (१९) जागत (२०) शाक्कर (२१) अग्निष्टोम (२२) रैवत (२३) यथोक्त (२४) त्रिपदा-गायत्रीयुक्त (उडुपति) विद्यावारिधि श्रीमत्पण्डित ज्वालाप्रसाद जी मिश्र ने अपने यजुर्वेदीय मिश्र-भाष्य के पीछे सोमविषयक एक परिशिष्ट दिया है। उसमें आपने त्रिपदा-गायत्री-युक्त और उडुपति ये दो नाम पृथक् पृथक् माने हैं। परन्तु ऐसा करने से सुश्रुत की लिखी हुई चौबीस संख्या नहीं रहती; पचीस हो जाती है।

पाठक देखेंगे, इन नामों में कुछ नाम तो वैदिक छन्दों के नामानुसार हैं और कुछ चन्द्रमा के गुण-नामानुसार। परन्तु कनीयान्, तालवृन्त आदि में दोनों बातें नहीं हैं। वे स्वतन्त्र नाम

हैं शायद वे सोमलता की छुटाई बड़ाई के अनुसार रक्खे गये हों। सुश्रुत के कथनानुसार सब नाम वैदिक हैं। पर सब के सेवन की विधि और गुण एक ही है। अब सोम का उपयोग किस तरह करना चाहिए सो सुनिए।

जिसे सोम-सेवन की इच्छा हो वह एक अच्छी जगह ढूंढ़ कर वहाँ एक त्रिवृत्त-तीन पीठ या घेरे का-घर बनावे। फिर सामग्री और नौकर-चाकर लेकर वहां जाय। वमन और विरेचन आदि से शरीर के सब दोषों को दूर कर दे। खाना-पीना सब नियमानुकूल होने दे। फिर अच्छे महूर्त में अंशुमान नामक सोम को वैदिक विधि से लाकर ऋत्विजों के द्वारा उसे परिष्कृत करावे-धुलवाये, छिलवाये, साफ़ कराये। यह हो चुकने पर उसका हवन कराकर मङ्गल-पाठपूर्वक घर के भीतर यथा-स्थान सोम की जड़ (कन्द) को सोने की शलाका से फाड़े। उससे जो दूध (रस) निकले उसे सोने के बर्तन में रख कर उसमें से अञ्जुली चुपचाप एक ही दफ़े में गले से उतार दे। पीते समय उस रस का स्वाद न ले; वह जीभ में न लगने पावे। फिर आचमन कर बचे हुए रस को पानी में डाल दे। यम-नियमों द्वारा चित्त-वृत्तियों को क़ाबू में रक्खे। बोले नहीं। मकान ही के भीतर अपने इष्ट-मित्रों सहित रहे। निर्वात स्थान में रहे-जहाँ रहे वहाँ हवा न आती हो। चित्त औषधि ही की तरफ लगाये रहे। जी चाहे बैठे, जी चाहे घूमे; पर सो न जाय।

शाम को भूख मालूम हो तो भोजन करे। पर क्या! भोजन

करे, यह न तो सुश्रुत ही महाराज ने लिखा, न उनके टीकाकार डल्लन ही ने। इसके बाद शान्तिपाठ सुनकर मित्र जनों से सेवा किया गया वह मनुष्य कुशा-शय्या* के ऊपर काला मृगचर्म बिछा कर सो जाय। प्यास लगे तो ठण्डा जल पिये। सबेरे उठ कर शान्तिपाठ सुने और मांगलिक कार्य या मंगलाचरण करके गऊ का स्पर्श करे। अनन्तर पहले की तरह बैठे। यहां पर "तथैवासीत" का अर्थ पण्डित ज्वालाप्रसाद जी "पूर्व की ओर बैठे" लिखा है। पर हमने डल्लनाचार्य के अर्थ का अनुगमन किया है। दोनों में जो अर्थ ठीक हो पाठक उसे ही स्वीकार करें। सोमरस के पच जाने पर कै शुरू होती है। कै में रुधिर निकलता है। उसमें कीड़े रहते हैं। कै होने पर शाम को गरम करके ठंढा किया दूध पीना चाहिए। तीसरे दिन विरेचन होता है और मल के साथ भी कीड़े निकलते हैं। इस वमन-विरेचन से शरीर शुद्ध हो जाता है। अनिष्ट भोजनों से पैदा हुआ दोष दूर हो जाता है। इसके बाद, अर्थात् तीसरे दिन, शाम को स्नान करके फिर दूध ही पीना चाहिए। रात को क्षौम वस्त्र बिछाकर शय्या पर सोना चाहिए। किसी की राय में क्षौम वस्त्र रेशमी कपड़ों को कहते हैं और किसी की राय में सन या अलसी की छाल से बने हुए कपड़ों को।

चौथे दिन बदन में सूजन आ जाती है। सब अंगों से कीड़े

*श्रीमत्पण्डित ज्वालाप्रसाद जी की राय में कुशा-शय्या से मतलब कुश के कूचों से बनी हुई खाट से है।

टपकने लगते हैं। तब सोमपायी को धूल बिछा कर शय्या पर सुलाना चाहिए और पूर्ववत् दूध पिलाना चाहिए। पाँचवें और छठे दिन भी यही उपचार करना चाहिए। दोनों वक्त सिर्फ दूध पिलाना चाहिए। सातवें दिन उसका मांस और त्वचा गल कर गिर जाती है। हड्डी मात्र शेष रह जाती है। पर सोमपान के प्रभाव से वह मरता नहीं; श्वासोच्छ्वास जारी रहता है। उस दिन गुनगुना दूध उसके अस्थि-पञ्जर पर छिड़कना चाहिए और नित्य मुलहटी और चन्दन का लेप लगाना चाहिए। यह करके फिर दूध पिलाना चाहिए। पर शरीर का मांस गल जाने से दूध उसके पेट तक पहुँचेगा कैसे और वहाँ आमाशय में ठहरेगा किस तरह, यह समझ में नहीं आता।

आठवें दिन बड़े सवेरे ही शरीर पर दूध छिड़क कर चन्दन लेप करे। पूर्ववत् शय्या से धूल उठा ले। उस पर क्षौम वस्त्र बिछा कर सोमपायी को सुलावे। उस दिन से नया मांस उत्पन्न होने लगता है और त्वचा भी उसी के साथ निकलने लगती है। दाँत, नख और रोम सब गिर जाते हैं। नवें दिन उसके शरीर पर आणु नामक तैल लगाना चाहिए और सोम की छाल के काढ़े से सेचन कराना चाहिए। दसवें दिन भी यही उपचार करे। तब तक त्वचा जरा कड़ी हो जाती है। ग्यारहवें और बारहवें दिन भी पूर्ववत् बर्ताव करे। तेरहवें दिन से सोलहवें दिन तक सिर्फ सोम की छाल के काढ़े से शरीर सेचन करे। सत्रहवें और अठारहवें दिन नये दाँत निकलते हैं। दाँत खूब चिकने, नोकदार और चम-

कीले होते हैं—ऐसे चमकीले जैसा हीरा, स्फटिक या वैडूर्य होता है। सब दांत एक से होते हैं; छोटे बड़े नहीं होते। खूब मजबूत और बड़ी से बड़ी चीज तोड़ सकने योग्य होते हैं। उस दिन से पचीसवें दिन तक पुराने चावलों का भात, दूध और यवागू के साथ मजे में खाता रहे।

छब्बीसवें दिन में दोनों वक्त चावल का नरम भात, सिर्फ दूध के साथ, खाय। तब नये नाखून निकलते हैं। वे मूँगा, बीरबहूटी और प्रातः कालीन सूर्य के सदृश सुर्ख होते हैं। चिकने भी होते हैं और "स्थिर" भी होते हैं। केश भी नये निकल आते हैं। त्वचा भी उत्पन्न होकर सम्पूर्णता को पहुँच जाती है। रङ्ग विष्णु भगवान् की त्वचा के रङ्ग का जैसा होता है—नील कमल, अलसी के फूल और वैडूर्य मणि का जैसा रङ्ग होता है वैसा।

एक महीने बाद सिर के बाल मुँडवा देने चाहिए और उस पर उशीर, चन्दन और काले तिल का लेप लगाना चाहिए; अथवा दूध से स्नान कराना चाहिए। मुँडवाने के सात दिन बाद नये केश निकलते हैं। वे भ्रमर और काजल के समान काले होते हैं; घुँघराले भी होते हैं और खूब चिकने भी होते हैं। याद रहे, अब तक सोमपायी महाशय तीन कक्षा (तीन पौठ) के घर के भीतर तीसरी कक्षा ही में रहे हैं। पर अब तीन रातें और बीत जाने पर, भीतरी कमरे से निकल कर दूसरे में आवें और जरा देर रह कर फिर भीतर ही उसी कमरे में घुस जायँ। इसके बाद बला नामक तैल बदन पर मलने के लिए, जौ के आटे का उबटन लगाने

के लिए गुनगुना दूध शरीर-सेचन के लिए, अजकर्ण नाम की औषधि का काढ़ा "उत्सादन" के लिए, खस पड़ा हुआ कुएँ का पानी स्नान के लिए, चन्दन लेप के लिए दिया जाय। खाने के लिए आँवले का रस मिला हुआ यूप और दाल आदि दे। दूध और मुलहटी से सिद्ध किये हुए तिल "अवचारण" के लिए दे। दस रातों तक यह काम जारी रक्खे।

इसके बाद सब से भीतर के कमरे को छोड़ कर दूसरे कमरे या दरजे में आवे। उसमें भी दस रात पूर्ववत् रहे। फिर सब से बाहर के, अर्थात् पहले, कमरे में आवे और आत्मा को स्थिर करके दस रातों तक वहाँ रहे। थोड़ी देर धूप और वायु का सेवन करके भीतर चला जाया करे। परन्तु भूल करके भी कभी अपना मुँह आईने में न देखे। क्योंकि उस समय सोमपायी के मुँह पर अद्भुत सौन्दर्य आ जाता है। इसके बाद १० रात क्रोध आदि विकारों के वशीभूत न हो। सब प्रकार के सोमामृत के सेवन की यही विधि है। विशेष करके वल्ली प्रतान और क्षुप जाति के सोम का सेवन करना चाहिए। उनके सेवनीय रस की मात्रा कोई पाव भर है। परन्तु ऊपर सोम के जो २४ प्रकार गिनाये हैं उनमें वल्ली और क्षुप नाम नहीं आया। शायद उन्हीं में से किसी दो के ये नामान्तर हैं।

अंशवान् नाम के सोम का रस सोने के पात्र में निचोड़े, चन्द्रमा का चाँदी के पात्र में। उनके सेवन से मनुष्य को अणि-मादिक आठ सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यही नहीं, किन्तु वह

ईशान देव (शिव) में लीन हो जाता है। बाक़ी के जो सोम हैं उनके रस को तांबे, मिट्टी या लाल चमड़े के पात्र में निचोड़े। शूद्रों के लिए यह रस नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन्हीं तीनों को इसे पीना चाहिए। सोम-रसायन पिये जब चार महीने हो जायँ तब पौर्णमासी के दिन किसी पवित्र स्थान में ब्राह्मणों की पूजा कर के मङ्गलपाठ-पूर्वक उस घर के बाहर निकले और फिर मज़े में जहाँ चाहे घूमे फिरे।

जो मनुष्य औषधियों के स्वामी सोम का सेवन करता है उसका नया शरीर, दस हज़ार वर्षों तक बना रहता है। आग, पानी, अस्त्र, शस्त्र और विषादि एक भी उसे बाधा नहीं पहुँचा सकते -- उसको मारने में वे कोई समर्थ नहीं होते। साठ वर्ष की उम्र वाले महामदोन्मत्त हज़ार हाथियों का इतना बल उसके शरीर में आ जाता है। उत्तर कुरु ही नहीं, क्षीरसागर और अमरावती तक वह बेखटके जा सकता है; कोई उसका रोकने वाला नहीं। अर्थात् जहाँ वह चाहे जा सकता है। रूप उसका कन्दर्प तुल्य हो जाता है; कान्ति उसकी चन्द्रमा के समान हो जाती है। उसके शरीर में ऐसी अपूर्व द्युति आ जाती है कि उसे देखकर प्राणिमात्र परमानन्द में मग्न हो जाते हैं। उसको सांगोपाङ्ग वेद भी आ जाते हैं। वह देवताओं के समान हो जाता है। उसका कोई सङ्कल्प व्यर्थ नहीं जाता। जो चाहे कर सकता है।

जितने प्रकार के सोम हैं सब में पन्द्रह ही पत्ते होते हैं। वे शुक्ल पक्ष के १५ दिनों में एक एक करके पैदा होते हैं और कृष्ण

पक्ष में एक एक करके गिर जाते हैं। पूर्णिमा के दिन पूरे १५ पत्ते हो जाते हैं और अमावस्या को एक भी नहीं रहता।

अंशुमान सोम में घी के सदृश सुगन्ध होती है। राजतप्रभ में कन्द होता है। मुञ्जवान् में केले की तरह का कन्द होता है। उसके पत्ते लहसुन के पत्तों के समान होते हैं। चन्द्रमा नाम के सोम में सोने के सदृश चमक होती है। वह हमेशा जल में होता है। गरुडाहृत और श्वेताक्ष सफेद रंग के होते हैं। आकार उनका सांप की केंचुली के सदृश होता है; पेड़ों के अग्र-भाग में वे लिपटे रहते हैं। इन दोनों सोमों में अनेक प्रकार के चित्रविचित्र मण्डल (घेरे) बने रहते हैं। जितने सोम हैं सब में १५ ही पत्ते होते हैं। किसी में मोटी जड़ होती है; किसी में दूध होता है; किसी की लता होती है; किसी के पत्ते किसी प्रकार के होते हैं, किसी के और किसी प्रकार के।

हिमालय, अर्बुद (आबू), सह्याद्रि, महेन्द्र, मलयाचल, श्रीपर्वत, देवगिरि, देवसह, पारियात्र, विन्ध्याचल आदि पर्वतों में सोम अत्यन्त होते हैं। देवसुन्द नाम के सरोवर में भी वे होते हैं।

व्यास नदी के उत्तर में जो पांच बड़े बड़े पर्वत हैं उनके मध्य और अधोभाग में सिन्धु नाम की महानदी है। उसमें चन्द्रमा नाम का उत्तम सोम पानी पर तैरा करता है।* उसी के पास

* मूल पाठ यह है—उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः।

अंशुमान् और मुञ्जवान् सोम भी होते हैं। काश्मीर में क्षुद्र मानसरोवर नाम का एक दिव्य तालाब है। उसमें गायत्र्य, त्रैष्टुभ, जागत, पांक्त और शांकर नाम के सोम होते हैं। चन्द्र-तुल्य कान्ति वाले और सोम भी वहां होते हैं।

परन्तु ये सोम सब को नहीं देख पड़ते। अधर्मी, कृतघ्न, ब्राह्मणद्वेषी मनुष्यों को इनके दर्शन अलभ्य हैं।

सुश्रुतजी के लेख का यही मतलब है। यद्यपि यह कलियुग है। अधर्म, कृतघ्नता और ब्राह्मणद्वेष का साम्राज्य है। तथापि धर्मिष्ठ, कृतज्ञ और ब्राह्मणों तथा वेदों की पूजा करने वाले भी पुरुष एक आध अब भी जहाँ तहाँ देखे जाते हैं। सोमों के नाम, लक्षण और उत्पत्ति—स्थान साफ़ साफ़ सुश्रुत में दिये हुए हैं। सोमरस-पान और तत्सम्बन्धी उपचार भी बहुत कठिन नहीं हैं। और लोग नहीं, तो अमीर आदमी तो जरूर ही उन्हें कर सकते हैं। क्या ही अच्छा हो यदि कोई एक आध प्रकार के सोम का पता लगाकर किसी अच्छे वैद्य से अपना कायाकल्प करा डाले और हज़ार हाथियों का बल प्राप्त कर के त्रिलोकी में आनन्द-पूर्वक विचरण करे। यदि गवर्नमेंट को ऐसे ऐसे १०० आदमी भी

पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धु नामा महानदः।
*उपप्लवते तत्र चंद्रमाः सोमसत्तमः॥

इसका भावार्थ पं० ज्वालाप्रसाद जी ने इस तरह लिखा है—" व्यास नदी के उत्तर पर्वतों में तथा जहां पंजाब की पांचो नदी सिन्धु में मिलती हैं वहां चन्द्र नामक सोम उत्पन्न होता है "।

मिल जाँय तो मानों उसे एक लाख हाथी मिल गये। ऐसा होने से उसे जो लाखों सैनिक रखने पड़ते हैं उनकी कोई ज़रूरत न रहे। सिर्फ़ एक कम्पनी से सब काम निकल जाय!! करोड़ों रुपये की बचत हो। मालूम होता है, अधर्म और कृतघ्नता आदि की बहुत वृद्धि होने से भगवान् सोम सदा के लिए इस देश से अन्तर्हित हो गये हैं। हम लोगों का अहोभाग्य है जो, सोम की तरह, भगवान् भी बिलकुल ही अदृश्य नहीं हो गये।

सुश्रुत जी के लेख से साफ़ तौर पर सिद्ध होता है कि उनके ज़माने में, या उनके पहले, सोम जैसा पवित्र पदार्थ चमड़े के बर्तन में भी रक्खा जाता था। जिस चमड़े को छूकर, आजकल, इस अधर्मिष्ठता के ज़माने में, हम लोग हाथ धोते हैं वह उस समय अपवित्र नहीं माना जाता था। किसी सोमरस के लिए सोने के, किसी के लिए चांदी के, किसी के लिए तांबे और मिट्टी के पात्रों का विधान किया गया है। यह पात्र-कल्पना या तो सोने के स्वभाव और गुण के अनुसार की गई होगी या पान करने वाले के सामर्थ्य के अनुसार। जिसके पास सोने का न हो वह चांदी के पात्र में निचोड़ा जाने वाला सोम पिये। वह भी न कर सके तो तांबे, मिट्टी या चमड़े के पात्र वाले को पिये। परन्तु ग़रीबों के लिए उसका पान शायद असम्भव था। क्योंकि तीन पीठ का घर और सोने का सिक्का मिलना उनके लिए कठिन समझना चाहिए। शूद्रों के लिए सोम रसायन पीने की जो मनाही है सो उचित ही है। वेदों का पढ़ना जब उनके लिए मना है तब

कायाकल्प करके देवता बन जाना जरूर ही मना होना चाहिए। कौन सच्चा स्वदेश-भक्त अँग्रेज चाहेगा कि कोई हिन्दोस्तानी काला आदमी भारत का बड़ा लाट हो जाय ?

जिस कायाकल्प का उल्लेख सुश्रुत जी ने किया है वह किसे किसे प्राप्त हुआ था, उसका पता पुराणादि प्राचीन ग्रन्थों से ढूंढ कर कोई लगावे तो बहुत अच्छा हो। सुश्रुत जी के बहुत पीछे के बने हुए ग्रन्थों में वाजीकरण आदि औषधियों के गुणों का वर्णन वैद्यों ने बड़ी ही आलंकारिक भाषा में किया है। "चूर्णमिदं पयसा निशि पेयं यस्य गृहे प्रमदाशतमस्ति"—इस तरह के अत्युक्ति-पूर्ण लटके इन ग्रन्थों में हज़ारों भरे पड़े हैं। परन्तु सुश्रुत जी के कायाकल्प-विधान को ऐसा नहीं कह सकते। वे ऋषि थे। अतएव सत्यवादी थे। उन्होंने जो कुछ लिखा है, बढ़ाकर न लिखा होगा। यदि उनके ज़माने में इस तरह का काया-कल्प किसी को भी न सिद्ध हुआ होगा, तो भी उन्होंने उसका उल्लेख अपने पूर्ववर्ती ऋषियों के ग्रन्थों के आधार पर किया होगा। पर कुछ प्रमाण या कुछ आधार उनके पास रहा जरूर होगा।

सुश्रुत के बाद के ग्रन्थकारों ने इस सोम-रसायन के पान की प्रक्रिया का वर्णन नहीं किया। किसी ने किया भी है तो कुछ यों ही नाम मात्र के लिए लिख दिया है। इससे जान पड़ता है कि धीरे धीरे लोग इसे बिलकुल ही भूल गये। अथवा यह शास्त्रोक्त पान और विधान असम्भव समझा जाने लगा।

चरक जी भी आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणाली के आचार्य माने जाते हैं। उनके ग्रन्थ में लिखा है कि सोम (चन्द्रमा) की एक एक कला की वृद्धि के साथ साथ सोमलता का एक एक पत्ता नया होता जाता है और उसके ह्रास के साथ साथ एक एक पत्ता गिरता भी जाता है। इसीसे इस लता का नाम सोम पड़ा। 'सोम' शब्द "सु" धातु से बना है। इस धातु का अर्थ प्रसव करना—पैदा करना—है। सोम अमृत पैदा करता है-उसकी किरणों में अमृत रहता है-इसी से वह सोम नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सुश्रुत जी के कथनानुसार सोमलता का रस भी अमृत ही के समान गुणकारी होता है। अतएव इस लता का भी सोम नाम यथार्थ है। यहां पर यह शंका हो सकती है कि सोमलता तो अदर्शनत्व को प्राप्त हो गई है; पर सोमोप नामक चन्द्रमा अब तक बना हुआ है। वह अमृत टपकाने के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु उसकी किरणों से अमृत का एक कण भी टपकते किसी ने नहीं देखा। अतएव क्या आश्चर्य जो चन्द्रमा के अमृत टपकाने की कथा की तरह सोमरस के पान से अमृत-पान के गुण होने की कथा भी वाग्विलास मात्र हो ? अथवा सोमलता की कथा चन्द्र-माही के पौराणिक गुणधर्मों का एक रूपक हो। बात यह है कि जिसे ऐसी कथाओं पर विश्वास नहीं वह यही क्या और भी सैकड़ों शंकायें कर सकता है। मानिए तो मान लीजिए, नहीं तो सशंक या निःशंक जैसे जी में आवे बैठे रहिए।

आयुर्वेद-विषयक बातों को छोड़ कर अब सोम-विषयक वैदिक बातों का विचार कीजिए। वैदिक समय में सोम का बड़ा आदर था। ऋषि मुनि सब उसे प्रेम से पीते थे। वह बड़ी ही पवित्र चीज़ मानी जाती थी। देवताओं को उसका भोग लगाया जाता था। उसे खुद भी देवत्व प्राप्त था। वह यज्ञों में काम आती थी। ऋग्वेद के नवें मण्डल में सोम की बड़ी बड़ी स्तुतियां हैं। यजुर्वेद के उन्नीसवें अध्याय में सौत्रामणि यज्ञ का विषय है। वहां सोम की बड़ी ही महिमा गाई गई है। देवता के समान उसकी स्तुति की गई है। उससे बर मांगे गये हैं। परन्तु उसके साथ ही उसके मादक गुण की गाथा भी गाई गई है। यहां तक कि 'सुरा त्वमसि शुष्मिणी' कह कर वह सुरा-सोम के नाम से अभिहित किया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में तो सुरा-सोम बनाने की विधि भी लिखी हुई है। उससे सूचित होता है कि सोमलता के रस में जौ, चावल, त्रिफला, शुण्ठी, पुनर्नवा, अश्वगन्धा, पिप्पली आदि चीजें डालकर रक्खी जाती थीं। तब उसमें मादकता आ जाती थी। वही रस छान कर पिया जाता था।

विद्वानों की राय है कि यही सोम-सुरा पानकरनेवाले सुर नाम से आख्यात हुए, और जिन्हें उसका पीना पसन्द नहीं था, अथवा जो बहुत कम पीते थे, वे असुर कहलाये। सुर, प्राचीन आर्य्यों के पूज्य हुए और असुर प्राचीन पारसियों के। यजुर्वेद के उन्नीसवें अध्याय में जिस सुरा का वर्णन है वह यदि एक प्रकार का मद्य ही था, जैसा कि वैदिक मंत्रों से सूचित होता है, तो उसे

आर्य लोग आदर-पूर्वक पीते थे। वाग्भट-कृत अष्टाङ्ग-हृदय में भी यही लिखा है—"सौत्रामण्यां द्विजमुखे या हुताशे च हूयते।" अर्थात् सौत्रामणी यज्ञ में सुरा अग्नि में होमी भी जाती है और द्विजों को पिलाई भी जाती है। अतएव वाग्भट के अनुसार सौत्रामणी यज्ञ में जो सुरा पान की जाती थी वह कोई असाधारण सुरा न थी। मामूली मदिरा थी।

वैदिक समय में लोग सोमरस को यों भी पीते थे और उसमें मादकता उत्पन्न करके उसको सुरा बना करके भी पीते थे। परन्तु एक बात समझ में नहीं आती। यदि सुश्रुत जी के कथनानुसार सोम-रस में वमन और विरेचन आदि उत्पन्न करने का गुण था तो बहुत पुराने वैदिक समय में तो सोमरस पान किया जाता था। उसमें यह बात क्यों न थी। इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि सोमरस पीने वाले को छर्दि होती थी, या उसका मांस गल जाता था, या और कोई बात वैसी होती थी। सोम-रसायन पीने की जो विधि सुश्रुत में दी गई है उसमें सोम-रस के साथ और कोई औषधि मिलाने की बात नहीं है, जो यह कहें कि उसके कारण वमन, विरेचन आदि उत्पन्न करने की शक्ति सोम-रस में आ जाती हो। इधर वैदिक सुरा में अन्यान्य चीज़ें जरूर मिलाई जाती थीं। उनके कारण सोम का वह गुण यदि जाता रहता था तो यों ही जो लोग सोमरस पीते थे उनके शरीर में कोई विकृति क्यों न होती थी।

जिस औषधि का जो गुण है वह होना ही चाहिए। वेदों में

ख़ालिस सोमरस-पान का भी उल्लेख है। पर, उसके पीने से क्या फल होता था छर्दि आदि कुछ होती थी या नहीं इसका कहीं उल्लेख नहीं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ख़ालिस सोम-पान की विधि नहीं लिखी। यज्ञों में जिस सोम का प्रयोग होता था उसमें और कितनी ही चीज़ें मिलाई जाती थीं। तब उसमें विशेष मादकता उत्पन्न होती थी।

डा० राजेन्द्रलाल ने गवर्नमेंट आव् इंडिया को एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने वादा किया था कि कुछ समय बाद हम सोम पर एक विस्तृत लेख प्रकाशित करेंगे। परन्तु डाक्टर साहेब का वह लेख हमारे देखने में नहीं आया। शायद वे लिख नहीं सके; उसके पहले ही उनकी मृत्यु हो गई।

आपस्तम्ब-यज्ञ-परिभाषा में सोमलता बेचने वाले जङ्गली आदमियों से उसके मोल लेने आदि की विधि लिखी हुई है। धूर्त[*] स्वामी की टीका में सोमलता का जो लक्षण दिया हुआ है उसमें लिखा है कि सोम एक प्रकार की वल्ली है। उसका

---

[*] इस विषय में हमारे मित्र पं० गिरधर जी शर्म्मा झालरा-पाटन से लिखते हैं "धूर्त स्वामी के बताये हुए सब लक्षण गिलवे में मिलते हैं; सिर्फ़ इसे छोड़ कर कि पत्ते नहीं होते। आयुर्वेद में सोमवल्ली कहने से उनका भी बोध होता है। इसमें दूध निकलता है और बड़ा गुण करता है। पित्त को दूर करता है। त्रिदोषघ्न है। दूध के साथ और विशेष कर बकरियों के दूध के साथ हितकारी है। सम्भव है, प्राचीन आर्य उसका उपयोग सोमलता के नाम से करते रहे हों। उसका एक नाम अमृता भी है। यह भी उसके अमृत-तुल्य गुण का साक्षी है। वह प्रायः नहीं सूखती।

रङ्ग काला होता है—उससे दूध निकलता है। लता में पत्तियां नहीं होतीं। चखने में वह कडुआ मालूम होता है। उसकी त्वचा मांसल होती है। उसे खाने से क़ै होने लगती है। उससे श्लेष्मा भी हो जाता है। उसे बकारियां आती हैं। इस बयान के अनुसार सोम का कड़ुवा होना सुश्रुत के वर्णन से मिलता है। क्योंकि जीभ में छू गये बिना ही सोम-रस पीने का विधान सुश्रुत ने लिखा है। इसका कारण कड़ुवेपन के सिवा और क्या हो सकता है? रसना में लगने से अति-कटुता के कारण सोमरस पिया न जायगा, इस लिए सुश्रुत ने एक साँस में पाव भर रस गले के नीचे उतारने की विधि लिखी है। क़ै होना भी सुश्रुत के दिये हुए लक्षण से मिलता है, और लता से दूध निकलना भी। परन्तु बिना पत्ती के लता का होना जो लिखा है सो सुश्रुत के लक्षण से नहीं मिलता। सूखने से यदि पत्तियां का गिर जाना माना जाय तो सूखी लता से दूध नहीं निकल सकता। सम्भव है, कोई सोमलता बेपत्ते की भी रही हो।

सूखी हुई भी फिर हरी हो सकती है। उसके कितने ही टुकड़े कर दिये जाँय; सब टुकड़े फिर ज़िन्दा हो कर लग जाते हैं। अर्थात् एक एक टुकड़े की एक एक बेल हो सकती है। यह भालरापाटन में मौजूद है और भी कई एक जगह है। इसे अमृत-वल्ली भी कहते हैं। इसका सूखा टुकड़ा पानी में भिगो कर निचोड़ा जा सकता है। वह रस भी काम में आता है।"

—सम्पादक

प्राचीन समय में सोम-रस का बहुत प्राचुर्य्य था। पुरातन आर्य्य उसे बहुत पीते थे। उससे दूध की तरह का रस निकलता था। वह कुछ समय तक रक्खा जाता था; बाद में दूध और शहद मिला कर पिया जाता था। उसके पीने से कुछ थोड़ा सा नशा होता था, बहुत नहीं। उसमें विशेष मादकता उत्पन्न करने की युक्तियाँ पीछे से निकाली गई थीं। धीरे धीरे सोम-पान का चसका आर्य्यों को लग गया और सोमलता का बहुत ख़र्च होने लगा। पीने और हवन करने में बेतरह ख़र्च होते होते वह अप्राप्य हो गई। तब उसकी जगह अन्यान्य औषधियाँ—पूतिका आदिक—काम में आने लगीं। यही हाल और भी कितनी ही औषधियों का हुआ है। आयुर्वेदिक चिकित्सा-शास्त्र में कितनी औषधियाँ ऐसी हैं जो ख़र्च होते होते बिल्कुल ही नष्ट हो गई हैं। अब उनकी जगह और और औषधियां काम में लाई जाती हैं।

झांसी के पास एक जगह बरुवासागर है। वहां एक झील है। उसके किनारे ब्राह्मी नाम की एक औषधि होती है। पर वह लता नहीं। एक छोटा सा पौधा है। एक दफ़े एक वैद्य महाशय उसे वहां से लाये थे। ब्राह्मी भी सोमलता ही का एक पर्य्यायवाची नाम है। वे कहते थे कि यही सोमलता है और उसके रसायन की विधि भी आप बतलाते थे। पर वह विधि विलक्षण थी। वे कहते थे कि गले तक जल के भीतर बैठकर उसे पीना चाहिए। उसके साथ और भी कितने ही झंझट आप बतलाते थे। पर

हमारी समझ में वह सोमलता नहीं। उसके एक भी लक्षण सुश्रुत और भूर्तस्वामी के उद्धृत लक्षणों से नहीं मिलते।

कुछ समय हुआ, इटावा-निवासी पं० भीमसेन शर्मा ने एक यज्ञ किया था। उसके लिए उन्होंने रीवां (बुंदेलखण्ड) के पहाड़ों से सोमलता के नाम से एक बल्ली मंगाई थी। उसके विषय में पण्डित जी लिखते हैं—"वास्तव में सोमलता नहीं मिलती, ऐसा हमारा अनुमान है। परन्तु सोमयागों में काशी के पंडित लोग जिसको सोम मानते हैं और काम में लाते हैं वह रीवाँ के राज्य में है।"

मानना और बात है, प्राचीन-ग्रन्थों में दिये गये लक्षणों से मिलती हुई सोमलता ढूंढ़ लाना और बात है। यों तो शायद किसी दिन कोई भृङ्गराज को सोमलता मानने लगे। कुश और कास तक जब ब्राह्मणों, पितरों और देवताओं की जगह पर लिये जाते हैं तब सोम की जगह पर कुछ रख लेना कौन बड़ी बात है।

आर्यों और पारसियों के पूर्वज किसी समय में एक ही थे। दोनों सोमरस पीते थे। इसी से सोम का नाम प्राचीन से भी प्राचीन माने गये वैदिक मन्त्रों में पाया जाता है। इधर पारसियों के प्राचीन-ग्रन्थ "अवस्ता" में भी सोम का नाम विद्यमान है। पर वहाँ सोम का होम हो गया है। इस होम का व्यवहार भारत-वर्ष के पारसी अब तक करते हैं। वे उसे बहुत पवित्र मानते हैं। यह सोम सूखी दशा में फ़ारस से आता है। उसे देखकर लोगों का ख्याल हुआ था कि शायद यही आर्यों का सोम है। पर योरप

के बनस्पति शास्त्र-वेत्ताओं ने जो उसकी खोज की तो पारसियों की होम एक और ही लता निकली। बलोचिस्तान के उत्तरी भाग से लेकर फ़ारिस तक यह बल्ली अधिकता से पैदा होती है और हुम, हुमा, यहमा आदि नामों से प्रसिद्ध है। वही इस देश के पारसियों के लिए भेजी जाती है।

सुश्रुत में जहाँ जहाँ सोम की उत्पत्ति लिखी है वहाँ वहाँ बहुत ढूंढ़ने पर भी उसका पता नहीं चलता। अतएव यह निश्चय समझिए कि आर्यों का सोम भारत से हमेशा के लिये तिरोहित हो गया। परन्तु जलन्धर छावनी के लाला देवीदयालु साहब की राय में सोमलता नष्ट नहीं हुई। वह अब भी अधिकता से पाई जाती है। आप अपनी "फूल" नाम की उर्दू-किताब में एक जगह लिखते हैं "जाबजा उसकी काश्त की जानिब ख़ास तवज्जुह होनी चाहिए"। कृपा करके आप अपने फूल-बाग़ में थोड़ी सी सोमलता लाकर लगावें तो उसकी खेती करने वालों को उसका रूप-रंग आदि देखने और उसका बीज या क़लम प्राप्त करने में सुभीता हो।

डाक्टर राक्सबर्ग, एम० डी०, ने "फ्लोरा इंडिया" नाम की एक किताब बनाई है। उसमें सोमलता का कुछ हाल है। उसी के आधार पर पूर्वोक्त लालासाहेब सोम की खेती करने की सिफ़ारिश करते हैं। डाक्टर साहब के कथन का मतलब लाला साहब ने अपनी किताब में इस प्रकार लिखा है—

"सोमलता के फूल छोटे-छोटे बहुत सफ़ेद और निहा-

यत खुशबूदार होते हैं। इस बेल में से इन्तहा दरजे का साफ़ साफ़ और दूध के मानिन्द अर्क़ बरामद होता है। इससे उम्दा अर्क़ मैंने कभी नहीं देखा। इसका ज़ायक़ा किसी क़दर तुर्शी मायल होता है। हिन्दुस्तान के मुसाफ़िर अक्सर इसी की नर्म शाखें रफ़ातिश्नगी की ग़रज़ से चूस जाते हैं। यह बेल जङ्गलों में पाई जाती है। नीज़ इलाक़ा बङ्गाल की झाड़ियों में भी पैदा होती है। जाबजा इसकी काश्त की जानिब ख़ास तवज्जुह होनी चाहिए।"

डाक्टर साहब ने यह सब तो लिखा, पर सोम के प्राचीन वर्णन और गुणों को अपनी सोमलता से मिलाकर दोनों की एकवाक्यता करने का कष्ट नहीं उठाया। इसका क्या प्रमाण है कि डाक्टर साहब की सोमलता वैदिक सोमलता है। सम्भव है, आपकी लता मामूली गिलोय या उसी जाति की कोई लता हो।

पुरातत्त्वज्ञ विद्वानों का मत है कि शुरू में आर्य लोग हरी सोमलता को कूट कर रस निचोड़ लेते थे। या यदि हरी लता न मिलती थी तो पर्वतीय आदमियों से सूखी लता लेकर उसे पानी में भिगो देते थे। फिर उसे मलकर छान लेते थे। बाद में दूध और शहद मिला कर उसे कुछ काल रक्खा रहने देते थे। इससे वह रस कुछ नशीला हो जाता था। उसे ही वे पीते थे। उसके पीने से नशा होता था। इससे वे इस लता को एक अद्भुत गुण वाली समझते थे और उसे भक्ति भाव-पूर्ण दृष्टि से देखते थे।

उस समय घर-घर याग होता था, घर-घर अग्नि-देव की पूजा होती थी। अग्नि एक विलक्षण प्रभाव-पूर्ण देवता मानी जाती थी। इससे सोमरस अग्नि में भी चढ़ाया जाता था। इसी कारण धीरे धीरे सोम का प्रभाव बढ़ गया। कुछ समय बाद इतने नशे से आर्यों को सन्तोष न होने लगा। तब उन्होंने सोमरस में अन्यान्य पदार्थ मिला कर उसमें अधिक मादकता पैदा की और उससे सोमसुरा तैयार होने लगा। इसी तरह सोम का घर-घर खर्च होने और उसकी रक्षा का कोई प्रबन्ध न किया जाने से उसका सर्वथा नाश हो गया।

परन्तु सुश्रुत के अनुसार सोमरस पान करने से अलौकिक शक्ति, रूप, आयु आदि की प्राप्ति की बात आज कल के विद्वानों—वनस्पति-विद्या के पंडितों और पुरातत्व-प्रेमियों—की समझ में नहीं आती। सूत्र और ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय में भी सोमलता दुष्प्राप्य हो गई थी। इस कारण सोम के स्थान में और चीजों के प्रयोग इन ग्रन्थों में लिखे हैं। यदि सुश्रुत जी का ग्रन्थ सूत्र-ग्रंथों के बाद माना जाय—और माना ही जाता है—तो उनके समय में भी सोमलता अप्राप्य नहीं तो दुष्प्राप्य जरूर रही होगी। अधर्मियों को सोमलता न दिखाई देने की जो बात सुश्रुत जी ने लिखा है, उससे भी यही सूचित होता है। अतएव, सम्भव है, सुश्रुत जी ने जो कायाकल्प की विधि लिखी है वह किसी बहुत पुराने ग्रन्थ के आधार पर लिखी हो और वह ग्रन्थ उस समय का हो जब अपने विलक्षण मादक गुण के कारण सोमलता एक अलौकिक

चीज मानी जाती थी। क्योंकि अज्ञानता की प्रथमावस्था में छोटी छोटी बातें भी आश्चर्य-जनक मालूम होती हैं। घड़ी को आप ही आप खट-खट करते देख अथवा ग्रामोफोन के गाने सुन कर छोटे छोटे बच्चों को थोड़ा आश्चर्य नहीं होता।

[मई, १९०८

११—सोम-याग

वैदिक समय में दो प्रकार के यज्ञ होते थे। एक तो दही, दूध, घी और पुरोडाश आदि की आहुतियों के द्वारा और दूसरा सोम-रस की आहुतियों के द्वारा। प्रथम प्रकार के यज्ञ का नाम हविर्यज्ञ है और दूसरे प्रकार के यज्ञ का नाम सोमयज्ञ या सोमयाग।

हविर्यज्ञ के बाद सोमयज्ञ चला। इसका प्रमाण अथर्ववेद में है। अथर्ववेद के गोपथ—ब्राह्मण में लिखा है कि भृगु और अङ्गिरा ऋषियों ने पहले पहल सोमयज्ञ किया।

हविर्यज्ञ अनेक प्रकार का है और सोमयज्ञ भी अनेक प्रकार का है। कृष्ण-यजुर्वेद के प्रथम काण्ड में यज्ञों के नाम हैं। उसी में उन सब की विधि भी है। किन्तु ब्राह्मण-भाग में जो विधि है वह कुछ अस्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि यजुर्वेद के प्रचार के समय ही सब यज्ञ जारी हुए। ऋग्वेद के समय उनका अंकुर मात्र था।

कृष्ण-युजुर्वेद के काण्ड १, प्रपाठक ६, अनुवाक ९ में यज्ञों के नाम आदि हैं। यथा—

"प्रजापतिर्यज्ञानसृजत। अग्निहोत्रं चाग्निष्टोमञ्च पौर्णमासी-ञ्चोकथ्यञ्चामावास्याञ्चातिरात्रं" इत्यादि।

हविर्यज्ञ अलग करके ७ प्रकार का है। यथा—अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, आग्रहायणी, चातुर्मास, पशुबन्ध और सौत्रामणि।

सोमयज्ञ भी प्रधानतः ७ प्रकार का है। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। राजसूय और अश्वमेध भी सोमयाग ही में गिने जाते हैं। परन्तु इन्हें ब्राह्मण लोग न करते थे।

सोमयज्ञ के अन्तर्गत भी कई प्रकार के याग हैं। वे चाहे जितने प्रकार के हों, सब की उत्पत्ति अग्निष्टोम ही से है। इसीलिए विशेष विशेष प्रकार का अग्निष्टोम-यज्ञ विशेष विशेष नाम से पुकारा जाता था। सोमरस से साधित होने के कारण लोग उसे सोमयज्ञ कहते हैं।

सोमयाग के भी तीन प्रकार हैं—"अहीन" "सत्र" और "एकाह"। जो एक दिन में पूरा होता है वह "एकाह" है। दो से बारह दिनों में होने वाले का नाम "अहीन" है। एक पक्ष या और अधिक दिनों तक होने से वह "सत्र" कहलाता है। सत्र के भी "दीर्घ सत्र" इत्यादि कई भेद हैं।

अग्निष्टोम-यज्ञ करने का समय इस प्रकार कहा गया है। यथा—"वसन्तेऽग्निष्टोमः" (कात्यायन-सूत्र) "वसन्ते ज्योतिष्टोमेन यजेत" (आपस्तम्बसूत्र) अतएव वसन्तकाल ही सोमयाग करने का समय है। वसन्तकाल ही में सोम बहुतायत से पाया जाता है। इसलिए उसी ऋतु में ऋषि सोमयाग करते थे।

सोमयाग का देवता अग्नि है। इसीलिए उसका नाम अग्नि-ष्टोम पड़ा (अग्निःस्तोमः स्तवन इत्याग्निष्टोमः) अग्नि का स्तोत्र गाना और उसकी पूजा करना ही उसका प्रधान उद्देश था। उसके साथ साथ और देवताओं की भी पूजा की जाती थी।

इस यज्ञ का करने के लिए सुपटु ब्राह्मण ही नियुक्त होते थे। पहले कोई अच्छी भूमि ढूंढ़ कर वहीं यज्ञ होता था। सब कहीं न होता था। पीछे, धीरे धीरे, यह विधि प्रचलित हुई कि जहाँ वेदज्ञ ब्राह्मण पाये जायँ वही स्थान यज्ञ के योग्य है।

स्थान का निश्चय हो जाने पर वहाँ एक मण्डप बनाया जाता था। वह चारों ओर समान होता था और हर तरफ़ १२ अरत्नि होता था। (कुहनी से कनिष्ठा अंगुली की जड़ तक का नाम अरत्नि है) इस मण्डप का प्राचीनवंश कहते थे। इसके चार द्वार होते थे। इस लिए इसको चतुर्द्वार-मण्डप भी कहते थे। यह चारों ओर तृण से छा दिया जाता था।

प्राचीन-वंश-मण्डप बन जाने और यज्ञ-सम्बन्धी सब सामग्री एकत्र हो जाने पर ऋत्विक्, अर्थात् पुरोहित, यजमान को उस गृह में ले जाकर उसे दीक्षा देते थे।

सब यज्ञों में ऋत्विक् लोगों की संख्या एक सी न होती थी। अग्न्याधान-याग में ४, अग्निहोत्र में १, दर्श-पौर्णमास में ४, चतुर्मास में ५, पशुबन्ध में और सोमयाग में १२ ऋत्विक् दरकार होते थे।

इन १६ ऋत्विकों के भिन्न भिन्न नाम और काम थे। नाम,

यथा—ब्रह्मा, उद्गाता, अध्वर्यु, होता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रस्तोता, मैत्रावरुण, प्रतिप्रस्थाता, पोता, प्रतिहर्त्ता, अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र, सुब्रह्मण्य, ग्रावस्तुत और उन्नेता।

आपस्तम्भ कहते हैं कि एक सदस्य भी होता है। इस प्रकार सोमयाग के १७ पुरोहित हुए। उनमें ४ प्रधान और शेष उन चारों के सहायक होते थे। होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा—ये चार प्रधान होते थे।

अध्वर्य्यु के सहकारी प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता थे। होता के सहकारी प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता और सुब्रह्मण्य थे।

देवता की स्तुति और आह्वान करना होता का कार्य था। देवता के सन्तोषार्थ साम-गान करना उद्गाता का कार्य्य था। कार्य्य विशेष में अनुमति देना और सब के कामों को सँभालना तथा जप करना ब्रह्मा का कार्य्य था। यजमान इन सब ऋत्विकों को वरण करता था। ये लोग यजमान का हाथ पकड़ कर उसे यज्ञ-मण्डप में ले जाते और दीक्षित करते थे।

दीक्षा लेते समय यजमान पहले हजामत कराता था। पीछे स्नान करके और नये कपड़े पहन कर माङ्गल्य द्रव्य धारण करता था। ऋत्विक् दर्भाञ्जलि अर्थात् कुश-गुच्छ लेकर यजमान के सर्वाङ्ग पर जल छींटते हुए, वेद-मन्त्र पढ़ते हुए, उसे यज्ञमण्डप के पूर्वद्वार से उसके भीतर ले जाते थे। भीतर जाते ही उसे यज्ञ दीक्षा देते थे। दीक्षा देने से मतलब एक छोटा सा होम कराने

से था। यह होम आरम्भ-सूचक था। उसका नाम दीक्षणीय इष्टि था।

इस प्रकार दीक्षा का काम पूरा हो जाने पर पहले अध्वर्यु ऊँचे स्वर से देवताओं और मनुष्यों को सुनाते थे कि "अदीक्षिष्टोऽयं ब्राह्मणः" अर्थात् इस ब्राह्मण ने दीक्षा ग्रहण की। यजमान क्षत्रिय और वैश्य हो तो भी यह ब्राह्मण ही कहा जाता था। फिर दीक्षित यजमान, प्रायणेष्टि नामक एक छोटा सा याग करता था। इस याग में चरुपाक करके उससे अदिति, और घी से अग्नि, सोम, सूर्य्यदेवता का होम किया जाता था। यह हो जाने पर वास्तव में यज्ञ का आरम्भ होता था। तब प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विक् "उपरव" प्रदेश में (उपरव किसे कहते हैं, यह पीछे बताया जायगा) कुश बिछाकर उनके ऊपर सोमलता का गट्ठा रखते थे। फिर सोम-विक्रेता सोम के रेशों की परीक्षा करता और साफ करता था। पीछे १७ ऋत्विकों सहित यजमान वहाँ आकर उसे मोल लेता था। लाल रंग की एक वर्ष-की एक गाय देकर सोम मोल लेना पड़ता था। ऐसी गाय लाकर अध्वर्यु सोम-विक्रेता से पहले मोल-तोल करता था। मोल-तोल की बातें आश्चर्यजनक हैं यथा—

अध्वर्यु—"आर्य भो विक्रेतव्यस्ते सोमो राजा!" सोम को क्या तुम बेचोगे?

सोमविक्रेता—"अस्ति विक्रेतव्यः" हाँ बेचने के लिए है।

अध्वर्यु—"गोः कलया मूल्येन क्रीणीमः"—गाय के सोलह अंशों में से एक अंश मूल्य देकर हम मोल लेंगे।

सोम०—"इतोऽतिभूयः सोमो राजाऽर्हति"—राजा सोम इससे अधिक मूल्य पाने के योग्य है।

अध्वर्यु—"सत्यं गोरपि विशिष्टा महिमा। पयः क्षीरसारं दध्यामिक्षानवनीतमुदश्वितं घृतम्—इत्येवमादीनि संसारोपयोगि-वस्तुजातानि गाभ्यः समुद्भवन्ति"—सत्य है कि सोम अधिक मूल्यवान है, किन्तु गाय की भी विशेष महिमा है। दूध, मलाई, दही, मक्खन, तक्र, घी इत्यादि अनेक प्रकार की वस्तुयें गाय से मिलती हैं।

सोम-विक्रेता—"अस्त्येतत् तथापि गोः षोडशांशादधिकं सोमो राजाऽर्हति"—यह सत्य है, तथापि राजा सोम गाय के सोलहवें अंश से अधिक मूल्य पाने के योग्य है।

अध्वर्यु पहले चार भागों में एक भाग मूल्य देकर लेना चाहते हैं। फिर तीन में से एक। फिर अर्धांश। फिर समूची गाय देना स्वीकार करते हैं। तब सोम विक्रेता कहता है—"विक्रीता मया सोमः"—परन्तु—"वस्त्रादिकं परितोषकमप्यहं लब्धुमिच्छामि—" मैं सोम बेचता हूँ, परन्तु वस्त्रादि पारितोषिक भी चाहता हूँ। तब विक्रेता को पारितोषिक दिया जाता और राजा सोम शकट पर लादे जाते। फिर उस प्राचीनवंश नामक याग-गृह में पूर्व द्वार से लेकर 'आहवनीय' नामक अग्निकुण्ड के

दक्षिण ओर, एक लकड़ी के पीढ़े पर मृगचर्म बिछाकर, उस पर वे रक्खे जाते। उस समय आतिथ्येष्टि नामक एक छोटा-सा याग किया जाता। अर्थात् राजा सोम मानों गृह में अतिथि हुए हैं। अतएव यथोचित अतिथि-सत्कार करना उचित है। इसी भाव से वह इष्टि, अर्थात् पूजा, की जाती और वह ठीक लौकिक रीति से सम्पादित होती।

फिर सोम-याग के विघ्नकारी असुरों की पराभव-कामना से यजमान तीन दिन तक "उपसद" नामक एक छोटा-सा यज्ञ करता। उसमें सबेरे और सन्ध्या-समय सोम और विष्णु देवता के नाम पर घी की आहुतियों से होम किया जाता।

तीन दिन होनेवाले उपसद्-नामक यज्ञ के बीचवाले दिन सौमिक वेदी बनाई जाती थी। उसके ऊपर का भाग, चारों ओर, वितान से ढक दिया जाता था। उसके सम्मुख भाग का नाम अंश और पश्चाद् भाग का नाम श्रोणी होता था। इस वेदी के अंश के उत्तर-भाग में १० डग के नाप की एक वेदी बनाई जाती थी। वह अग्निहोत्र-वेदी के सदृश होती थी। उसका नाम "उत्तरवेदी" होता था। उस वेदी के अंश के उत्तर-भाग में पूर्व-पश्चिम, एक डग की एक और वेदी बनाई जाती थी। उसका भी आकार अग्निहोत्र-वेदी के सदृश ही होता था। फिर महावेदी के मध्य भाग में श्रोणी-रेखा खींची जाती थी। मध्य से अंश तक उस सुव्यक्त रेखा का नाम "पृष्ठ्या" होता था। महावेदी के उत्तरांश के पश्चाद् भाग में, तीन डग की दूरी पर, एक गढ़ा

खोदा जाता था। उसको वैदिक लोग चत्वालक कहते थे। इस चत्वालक गड्ढे से १२ डग की दूरी पर एक और गढ़ा खोदा जाता था। उसका नाम "उत्कर" होता था।

यह सब बना लेने पर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता हविर्धान नामक दो छकड़े उस गढ़े में धोकर, और पश्चिम ओर से महा-वेदी पर लाकर, श्रोणी के निकट रखते थे। फिर उस पृष्ठ्या नामक रेखा के दक्षिणोत्तर चार खम्भे वाला एक मण्डप बनाते थे। उस मण्डप का नाम हविर्धान-मण्डप था। उसके पूर्व और पश्चिम में दो द्वार होते थे। वीरण अर्थात् शरपत्र (सरपत?) की चटाई से उसे चारों ओर से घेर देते थे।

इसके अनन्तर मण्डप के मध्य में, एक ही से चार कमरे बना कर, अग्निकोण वाले कमरे के बीच में, एक हाथ वर्गाकार-रेखा की कल्पना करके प्रत्येक कोने के किनारे आध हाथ लम्बा और एक हाथ गहरा एक गढ़ा खोदते थे। अर्थात् चारों कोनों पर चार गढ़े खोदते थे। गढ़ों के मुँह वरुणाकाष्ठ की चार कड़ियों से बन्द करके उन पर मृग-चर्म और उनके ऊपर शिलापट्ट (पत्थर की पटिया) रखते थे। उसी पर रस निकालने के लिए सोम पीसा जाता था।

हविर्धान-मण्डप के सम्मुख, पृष्ठ्या नामक स्थान के दक्षिण, सदोमण्डप नाम का एक और मण्डप बनाया जाता था। यह मण्डप १० अरत्नि लम्बा और ४ अरत्नि चौड़ा, खम्भों से सुशोभित, साफ़ सुथरा होता था। सदो-मण्डप के ठीक बीच

मे यजमान के आकार का एक औदुम्बरी स्थूणा (खूंटा) गाड़ा जाता था। फिर अग्निशाला का निर्माण, सदोमण्डप और हविर्धान-मण्डप के उत्तर-भाग में, होता था। उसका एक अर्धांश वेदी की ओर घुसा हुआ और दूसरा बाहर को निकला हुआ रहता था। उसमें दो द्वार होते थे। एक दक्षिण की ओर, दूसरा पूर्व की ओर।

आहवनीय-कुण्ड के निकट ही यज्ञीय यूप-स्तम्भ गाड़ा जाता था।

महावेदी बन जाने पर, वैसर्जन नामक होम के बाद, अग्नि-ष्टोमीय पशुयाग का प्रारम्भ होता था। यह याग सोमयाग का पूर्वाङ्ग है। उस समय वंश-शाला में उत्तर-वेदी पर रक्खी हुई सोमलता को लाकर हविर्धान-मण्डप में रखते थे। फिर यज्ञीय पशु को पवित्र जल से स्नान करा कर, यूप के सामने, पश्चिम-मुँह खड़ा कर के, कुशाञ्जलीयुक्त प्लक्ष शाखा से उसे मन्त्रपूत करते थे। मन्त्रपूत अर्थात् उपाकरण हो जाने पर संज्ञपन अर्थात् वध करने तक जो क्रियायें की जाती थीं, उनका नाम पश्वालम्भन था।

दाँता हुआ, सर्वाङ्गपूर्ण, रोगशून्य और बहुत हृष्ट-पुष्ट बकरा ही यज्ञ-कार्य्य में ग्रहण किया जाता था।

पशु जब वध्यस्थान में लाया जाता था तब ऋत्विक् लोग ऊँचे स्वर से वेद-मन्त्र-गान करते थे। जो मन्त्र गाये जाते थे उन में से एक का अर्थ यों है। "हे व्यापक इन्द्रियसमूह! इस पशु की इन्द्रियाधिष्ठात्री देवी सहित तुम हमें हवि अर्थात् होम-द्रव्य दो।"

संज्ञपन हो जाने पर पशु के नीचे लिखे अंग काट-काट कर "शामित्र" नामक अग्निकुण्ड में भूने जाते थे। फिर मन्त्र गाते-गाते उसकी आहुति दी जाती था। ये अंग ये हैं -फलेजा, जीभ, वक्ष, तिल्ली, वृक्कद्वय, अगला बायां पैर, दोनों पार्श्व, दाहिनी श्रोणी, वायुनाल और चर्बी आदि। और भी कई अंग काट कर उनसे होम किया जाता था। इन सब क्रियाओं का नाम था "अग्नीषोमीय पशुयाग"।

इसके बाद ही पुरोहित ब्राह्मण, चात्वाल और उत्कट-भूमि के उत्तर भाग में बहते हुए जलाशय से जल लाकर यज्ञशाला में रखते थे। उस लाये हुए जल का वैदिक नाम वसतीवरी था। उस दिन, रात भर, जाग कर यजमान ब्राह्मणों से नाना प्रकार के इतिहास और वैदिक बातें सुनता था। इसी कारण उस दिन का नाम उपवस्थ था।

इसके बाद के दिन का नाम सुत्या-दिवस था। उस दिन सवेरे अध्वर्यु आदि ब्राह्मण, स्नान और आह्निक कर्म करके, जो जो कार्य्य करने की विधि होती थी उसमें लग जाते थे। यथा—

पहिले हविर्धान के छकड़े से सोम उतार कर उसे वे उपसव-स्थान में रखते थे। अध्वर्य्यु बहुत सवेरे उठ कर होता को "प्रेष-मन्त्र" से आवाहन करते थे। होता भी प्रातरनुवाक पढ़ कर अश्विनीकुमार का स्तवन करते तथा आग्नीध्र-पुरोडाश आदि प्रस्तुत करने लगते थे और उन्नेता सोमपात्र सजाते थे *।

* सोमपात्र दो प्रकार का होता है—ग्रह और स्थाली। ग्रह लकड़ी

फिर हविर्धान की गाड़ी के अक्ष-प्रान्त में दो ऊर्णावक, अर्थात् भेड़ के रोयें के बने कम्बल, सोमरस छानने के लिए रक्खे जाते थे। तदनन्तर दक्षिणी हविर्धान के छकड़े के नीचे मिट्टी का एक द्रोण-कलश रक्खा जाता था और उत्तरी हविर्धान के छकड़े के ऊपर दूसरे दो बड़े-बड़े कलश। उनमें से एक का नाम उपभृत और दूसरे का नाम आधवनीय था। पश्चात् उत्तरवाले छकड़े के नीचे १० काष्ठमय चमस और मिट्टी के ५ घड़े रक्खे जाते थे। यह सब कार्य्य उन्नेता करता था।

इसके अनन्तर अध्वर्य्यु की आज्ञा से यजमान, उसकी पत्नी और चमसाध्वर्य्यु, ऊपर लिखे हुए घड़ों में जल लाते थे। जो जल पुरुष लाते उसका नाम एकधन और जो यजमान-पत्नी लाती उसका नाम पात्नेजन था। अध्वर्य्यु इन दोनों प्रकार के जलों को पूर्वोक्त वसतीवरी जल में मिला देते थे। फिर यजमान, प्रति-प्रस्थाता, नेष्टा और अध्वर्य्यु उस सोमवाली सिल के पास बैठ कर और ग्रावा हाथ में लेकर, अनुज्ञा-वाक्य उच्चारण करते थे। अनन्तर अध्वर्य्यु पाँच मुट्ठी सोम सिल पर रखते थे। प्रति-प्रस्थाता उस सोम के ढेर में से ६ सोमअंशु लेकर अपनी उँग-लियों के बीच में दबा रखते थे। फिर सब इकट्ठे होकर उसे पीसते थे। इस प्रकार सोमरस निकालने का नाम सोमाभिषव्

का और स्थाली मिट्टी का बनता था। ये दोनों बर्तन भिन्न आकार के बनाये जाते थे।

था। यह दिन में केवल तीन बार किया जाता था। सवेरे के सोमाभिषव् का नाम प्रातः-सवन, मध्यवाले का नाम माध्याह्न-सवन और सायङ्काल वाले का सायंसवन था। निकाले गए सोम-रस की आहुतियाँ दी जाती थीं। शेष भाग पीने के लिए रक्खा जाता था।

आहुति-योग्य सोमाभिषव् समाप्त होने पर पुरोहित लोग महाभिषव् अर्थात् अधिकता से सोम पीसना आरम्भ करते थे। प्रतिप्रस्थाता आदि सब लोग एकत्र होकर पीसते और अध्वर्यु उसमें जल देते जाते। अच्छी तरह पिस जाने पर उसे आधव-नीय कलश में डाल कर हिलाते रहते। फिर उसे कपड़े से दबा कर रस निकालते। उस रस को क्रम से ग्रह, चमस और कलश में भरते और अनेक प्रकार के मन्त्र और स्तोत्र पढ़ते। उससे देवताओं के नाम पर आहुतियाँ दी जातीं।

सोमयाग के देवता—सूर्य, अग्नि, इन्द्र, वायु, मित्र, वरुण, अश्विनीकुमार, विश्वदेव, महेन्द्र, वैश्वानराग्नि, चैत्रादि मासों की अधिष्ठात्री देवता, मरुद्गण सहित इन्द्र, त्वष्ट्र-सहित अग्नि-पत्नी स्वाहा हैं।

इस अनुष्ठान के बाद पुरोहित और यजमान सोमरस पी कर आत्मा को कृतकृत्य समझते थे। पुरोहित और यजमान के सोमपान के विधान में भेद है। पुरोहित प्रत्येक सवन में बचा हुआ सवन पीता और यजमान केवल सायंसवन में पीता था। याग समाप्त होने पर यजमान पहले कहे हुए सवोमयकल में

जाकर पुरोहितों को दक्षिणा देता था। अग्निष्टोमयज्ञ के दक्षिणा-विभाग में क्रम से १२०० गायें * और सोना, वस्त्र, अश्व, अश्वतर, गधा, भेड़, बकरा, अन्न और उड़द देने की विधि थी।

जिस पुरोहित को जिस प्रकार दक्षिणा देने की विधि थी वह नीचे लिखी जाती है—

ब्रह्मा को १२ गायें और कुछ सोना इत्यादि।

उद्गाता को	"	"
होता को	"	"
अध्वर्यु को	"	"

ब्राह्मणाच्छंसी को ९ गायें और कुछ सोना इत्यादि

प्रस्तोता को	"	"
प्रतिप्रस्थाता को	"	"

पोता को ६ गायें और कुछ सोना इत्यादि

प्रतिहर्त्ता को	"	"
अच्छावाक को	"	"

अग्नीध्र को ३ गायें और सोना इत्यादि

सुब्रह्मण्य को	"	"
ग्रावस्तुत को	"	"
उन्नेता को	"	"

---

* न हो तो १०० गायें। वे भी न हों तो उनके मूल्य देने की विधि भी है।

शेष गायें आदि दूसरे सहकारी ब्राह्मणों को, अर्थात् चमसाध्वर्यु आदि को, यथाशास्त्र विभाग करके दी जाती थीं।

उस समय दूसरे याचक, अर्थात बिना बुलाये आये हुए ब्राह्मण, अन्धे, लँगड़े, अनाथ, दीन आदि को अन्न, वस्त्र, सोना इत्यादि यथा-शक्ति बाँटे जाते थे।

यज्ञ-समाप्ति के बाद एक और कार्य्य करना पड़ता था। उसका नाम अवभृथ-स्नान था। वह स्नान बड़े समारोह से होता था। पुरोहित, बन्धु-बान्धव, सुहृद् और उनकी स्त्रियाँ सब एकत्र होकर यजमान-सहित स्नान करने के लिए किसी बड़ी नदी, नदी न हो तो किसी पवित्र जलाशय, को जाते थे। जाते समय प्रस्तोता नामक पुरोहित आगे-आगे साम-गान करते चलते और यजमान आदि पुरुष तथा उनकी स्त्रियाँ पीछे-पीछे गाती हुई जाती थीं। जल के पास पहुँचने पर पहले एक होम किया जाता था, पीछे जलक्रीड़ा होती थी। यह अवभृथ-स्नान बड़े बड़े यज्ञों का अङ्ग था। इस स्नान से शायद ब्रह्महत्यादि सब पाप दूर हो जाते थे*।

[जनवरी १६१५

* इस विषय पर बा० रामदास सेन का लिखा हुआ एक लेख बँगला में है। उसका अनुवाद तेली-समाचार में निकला था। उसी का यह यत्र-तत्र परिवर्तित और परिष्कृत रूप है।

१२—बौद्धकालीन भारत के विश्वविद्यालय

इस लेख में बौद्धकालीन भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों का सिलसिलेवार संक्षिप्त इतिहास लिखा जाता है। श्रीयुत रवीन्द्र-नारायण घोष, एम० ए०, ने डॉन् सोसाइटी की मैगज़ीन में इस विषय का लेख अंगरेज़ी में प्रकाशित किया है। उसी के आधार पर यह लेख लिखा जाता है।

बौद्धकाल तीन युगों में बाँटा जा सकता है। पहला युग गौतम बुद्ध के समय से शुरू होता है और पाँच सौ वर्ष तक रहता है। इस युग के बौद्ध साधुचरित्र और सच्चे त्यागी होते थे। दूसरा युग ईसवी सन् के साथ प्रारम्भ होता है और ईसा की छठी शताब्दी में समाप्त हो जाता है। इस युग में बौद्धों ने पहले युग के गुण अक्षुण्ण रखने के साथ साथ शिल्पकला में भी अच्छी उन्नति की थी। सातवीं शताब्दी से तीसरा युग लगता है। उसे तान्त्रिक युग भी कह सकते हैं। उसमें बौद्ध महन्तों के चरित्र बिगड़ने लगे थे और पहले की जैसी त्यागशीलता जाती रही थी। परन्तु उन लोगों ने आयुर्वेद और रसायन-शास्त्र में ख़ूब उन्नति की थी। उनमें से प्रत्येक युग के विशेषत्व की झलक उस समय के विश्वविद्यालयों में अच्छी तरह पाई जाती है।

तक्षशिला का विश्वविद्यालय

पहले युग का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय तक्षशिला नगर में था। यह नगर वर्तमान रावलपिण्डी के पास था। सूक्त और विनय-पीठ आदि प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों में इसका कई जगह उल्लेख पाया जाता है। प्राचीन काल में यह एक अत्यन्त विख्यात नगर था। एरियन, स्ट्राबो, प्लीनी आदि प्राचीन लेखकों ने इस नगर की विशालता और वैभव-सम्पन्नता की प्रशंसा जी खोल कर की है। अशोक के राजत्वकाल में उसका प्रतिनिधि यहां रहता था। बौद्ध-ग्रन्थों से पता लगता है कि यह अपने समय में विद्या-सम्बन्धी चर्चा और पठन-पाठन का केन्द्र था। यह विश्वविद्यालय बुद्ध के पहले ही स्थापित हो चुका था। इसमें वेद, वेदांग, उपांग आदि के सिवा आयुर्वेद, मूर्तिकारी, चित्रकारी, गृहनिर्माण विद्या आदि भी पढ़ाई जाती थी।

विज्ञान, कलाकौशल और दस्तकारी के सब मिलाकर कोई अठारह विषय पढ़ाये जाते थे। इनमें से प्रत्येक विषय के लिए अलग अलग विद्यालय बने हुए थे और भिन्न भिन्न विषयों को भिन्न भिन्न अध्यापक पढ़ाते थे। जगद्विख्यात संस्कृत-वैयाकरण पाणिनि और राजनीतिज्ञ-शिरोमणि चाणक्य ने इसी विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई थी। आत्रेय यहाँ वैद्यक-शास्त्र के अध्यापक थे। मगध-नरेश बिम्बसार के दरबारी चिकित्सक और महात्मा बुद्ध के प्रिय मित्र तथा मतानुयायी वैद्यराज जीवक ने तक्षशिला ही के अध्यापकों से चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया

था। विनय-पीटक में महावग्ग नामक एक मनुष्य का हाल है, जिससे प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली का अच्छा पता लगता है। कई वर्ष अध्ययन करने के बाद महावग्ग ने अपने गुरु से पूछा कि शिक्षा समाप्त होने में अभी कितने दिन बाकी हैं। गुरु ने उत्तर में कहा कि तक्षशिला के चारों तरफ़, एक योजन भूमि में, जड़ी बूटियों के सिवा जितने व्यर्थ पौधे मिलें उन सब को जमा करो। बेचारे विद्यार्थी ने नियत स्थान के प्रत्येक पौधे की परीक्षा की, परन्तु उसे कोई भी व्यर्थ पौधा न मिला। शिक्षक महाशय ने अपने परिश्रमी विद्यार्थी की खोज का हाल सुना तो बड़े प्रसन्न हुए और महावग्ग से बोले कि तुम्हारी शिक्षा समाप्त हो गई अब तुम अपने घर जाओ।

तक्षशिला वैदिक-धर्मावलम्बियों की विद्या का केन्द्र-स्थान था; पर बौद्ध-धर्म का प्रचार होने पर वहाँ बौद्ध लोग भी पढ़ने पढ़ाने लगे थे। यहाँ से कई बौद्ध विद्यार्थी ऐसे निकले जो समय पाकर ख़ूब विख्यात हुए। बौद्ध-धर्म के सौत्रान्तिक-सम्प्रदाय के स्थापक कुमारलब्ध भी इन्हीं में थे। इनके विषय में हुएनसंग लिखते हैं—"सारे भारत के लोग उनसे मिलने आते थे। वे नित्य बत्तीस हज़ार शब्द बोलते और बत्तीस हज़ार अक्षर लिखते थे। उन्होंने कई शास्त्रों की रचना की थी। उस समय पूर्व में अश्वघोष, दक्षिण में देव, पश्चिम में नागार्जुन और उत्तर में कुमारलब्ध अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् थे। ये चारों पंडित संसार को प्रकाशित करने वाले चार सूर्य्य कहलाते थे।"

जिस समय तक्षशिला में वैदिक-धर्मावलम्बियों की प्रबलता थी उस समय तीन बातें ऐसी थीं जिनका यहाँ पर लिख देना हम उचित समझते हैं। एक तो यह कि उस समय की शिक्षाप्रणाली नियमबद्ध विश्वविद्यालयों की जैसी न थी; किन्तु ऐसी थी जैसे कि वर्तमान काल में बनारस की है। पर बौद्ध विहारों की पढ़ाई इससे ठीक उलटी थी। वहाँ की शिक्षाप्रणाली वैसी ही थी जैसी नियमबद्ध विश्वविद्यालयों की होनी चाहिए। दूसरी बात यह कि बौद्ध विहारों की तरह यहाँ पर केवल सन्यासियों ही को शिक्षा न दी जाती थी; किन्तु गुरु और शिष्य दोनों ही गृहस्थ होते थे। यह बात असतमन्त जातक की एक कहानी से और भी स्पष्ट हो जाती है। एक ब्राह्मण ने अपने पुत्र से पूछा कि तुम कैसा जीवन बिताना चाहते हो। यदि तुम ब्राह्मण-राज्य में प्रवेश करना चाहते हो तो वन को जाओ और वहाँ अग्निहोत्र करो। यदि गृहस्थ बनना चाहते हो तो तक्षशिला जाकर किसी विख्यात पंडित से विद्याध्ययन करो, जिसमें सुखपूर्वक गृहस्थ-जीवन बिता सको। पुत्र ने उत्तर दिया :—"मैं वानप्रस्थ बनना नहीं चाहता; मेरी इच्छा गृहस्थ बनने की है"। तक्षशिला के वैदिक विद्यालयों में ध्यान देने योग्य तीसरी बात यह थी कि उनमें केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय बालक ही भर्ती किये जाते थे।

नालन्द का विश्वविद्यालय

बौद्धकाल के दूसरे युग में सब से बड़ा विश्वविद्यालय नालन्द में था। यह स्थान मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह से सात

मील उत्तर की ओर, और पटना से चौंतीस मील दक्षिण की ओर था। आज कल इस जगह पर बारगाँव नामक ग्राम बसा हुआ है, जो गया ज़िले के अन्तर्गत है। नालन्द की प्राचीन इमारतों के खंडहर यहाँ अभी तक पाये जाते हैं। सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसंग ने नालन्द की शान व शौकत का बड़ा ही मनोहर वृत्तान्त लिखा है। चीन ही में उसने नालन्द का हाल सुना था; तभी से इसे देखने के लिए वह ललचा रहा था। इधर उधर घूमते-घामते जब वह गया पहुँचा तब विश्व-विद्यालय के अधिकारियों ने उसे नालन्द में आने के लिए निमंत्रण दिया। इससे उसने अपने को धन्य समझा। नालन्द में पहुँचते ही उसके दिल पर ऐसा असर पड़ा कि वह तुरन्त विद्यार्थियों में शामिल हो गया।

नालन्द की बाहरी टीमटाम

विद्यालोलुप चीनी सन्यासी नालन्द की भव्यता और पवित्रता देख कर लट्टू हो गया। ऊँचे ऊँचे विहार और मठ चारों ओर खड़े थे। बीच बीच में सभागृह और विद्यालय बने हुए थे। वे सब समाधियों, मन्दिरों और स्तूपों से घिरे हुए थे। उनके चारों तरफ़ बौद्धशिक्षकों और प्रचारकों के रहने के लिए चौमंज़िला इमारतें बनी हुई थीं। उनके सिवा ऊँची-ऊँची मीनारों और विशाल भवनों की शोभा देखने ही योग्य थी। इन भवनों में नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। रंग बिरंगे दरवाज़ों, कड़ियों, छतों और खम्भों की सजावट को देख

कर लोग लोट-पोट हो जाते थे। विद्या-मन्दिरों के शिखर आकाश से बातें करते थे और हुएनसंग के कथनानुसार उनकी खिड़कियों से वायु और मेघ के जन्मस्थान दिखाई देते थे। मीठे और स्वच्छ जल की धारा चारों ओर बहा करती थी और सुन्दर खिले हुए कमल उसकी शोभा बढ़ाया करते थे।

नालन्द का आन्तरिक जीवन

विशालता, नियमबद्धता और सुप्रबन्ध के विचार से नालन्द का विश्वविद्यालय वर्तमान काशी की अपेक्षा आक्सफर्ड से अधिक मिलता-जुलता था। विश्वविद्यालय के विहारों में कोई दस हजार भिक्षु विद्यार्थी और डेढ़ हजार अध्यापक रहते थे। केवल दर्शन और धर्मशास्त्र ही के सौ अध्यापक थे। इनसे संबंध रखनेवाला पुस्तकालय नौ-मंजिला था, जिसकी ऊँचाई क़रीब तीन-सौ फ़ुट थी। उसे महाराज बालादित्य ने बनवाया था। इसमें बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी सभी ग्रन्थ थे। प्राचीन काल में इतना बड़ा पुस्तकालय शायद ही कहीं रहा हो।

दुनिया में आजकल जितने विश्वविद्यालय हैं सब में विद्यार्थियों से फ़ीस ली जाती है। पर नालन्द के विश्वविद्यालय की दशा इससे ठीक उलटी थी। केवल यही नहीं कि विद्यार्थियों से कुछ न लिया जाता था, किन्तु उलटा उन्हें प्रत्येक आवश्यक वस्तु मुफ़्त दी जाती थी—अर्थात् भोजन, वस्त्र, औषध, निवास-स्थान आदि सब कुछ सेंतमेंत मिलता था। यह प्रथा हिन्दोस्तान

में बहुत प्राचीन काल से चली आई है। गृहस्थ लोग गाँव, खेत, बाग, वस्त्र अथवा नक़द रुपये इन विद्यालयों को दान करते थे। इसीसे उनका सम्पूर्ण ख़र्च चलता था। इस प्रकार विद्यार्थियों का बहुत समय और मानसिक शक्ति पेट-पूजा के लिए धनोपार्जन करने में नष्ट होने से बच जाती और वे इस समय और शक्ति को विद्याध्ययन में लगाते थे। इसका फल यह होता था कि गम्भीर विचार वाले और मननशील विद्वान् इन विद्यालयों से निकलते थे। इसीसे वे लोग बौद्ध धर्म, संस्कृत-साहित्य और संसार का अनन्त उपकार कर गये हैं।

नालन्द के विश्वविद्यालय में आजकल की तरह परीक्षायें न होती थीं। किन्तु विद्यार्थियों की योग्यता शास्त्रार्थ द्वारा जांची जाती थी। विद्यालय में भर्ती होने के नियम भी बड़े कड़े थे। जो लोग दाखिल होने के लिए आते थे उनसे द्वारपंडित कुछ कठिन प्रश्न करता था। यदि वे उनका उत्तर दे सकते थे तो भीतर जाने पाते थे, नहीं तो लौट जाते थे। इसके बाद शास्त्रार्थ के द्वारा उनकी योग्यता की परीक्षा ली जाती थी। जो उसमें भी अपनी योग्यता प्रमाणित कर सकते थे वही विद्यालय में दाखिल हो सकते थे। बाकी अपना-सा मुँह लेकर अपना रास्ता लेते थे। मतलब यह कि अच्छे बुद्धिमान्, विद्वान्, योग्य और गुणवान् मनुष्य ही विश्वविद्यालय में प्रवेश करते थे।

द्वारपंडित के पद पर वही नियत किया जाता था जो ऊँचे दर्जे का विद्वान् होता था। यह पद उस समय बहुत प्रतिष्ठित

समझा जाता था। विश्वविद्यालय के सभागृह में सवेरे से शाम तक शास्त्रार्थ हुआ करता था। दूर-दूर देशों से पंडित अपनी शङ्कायें दूर करने के लिए वहाँ आते थे। नालन्द के विद्यार्थियों का देश भर में आदर, सत्कार, सम्मान होता था। जहाँ वे लोग जाते थे वहीं उनकी इज्जत होती थी। यों तो नालन्द-विश्वविद्यालय के प्रायः सभी अध्यापक उत्कृष्ट विद्वान् थे, पर उनमें से नौ मुख्य थे। हुएनसंग ने उनकी सीमारहित विद्वत्ता, योग्यता, देश-व्यापी ख्याति, अद्भुत प्रतिभाशालिता की खूब प्रशंसा की है। उन नौओं अध्यापकों के नाम ये हैं—धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र, शीघ्रबुद्धि और शीलभद्र। इनमें से शीलभद्र, हुएनसंग के समय में, विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे। बौद्धधर्म्म के महायान-सम्प्रदाय के जगद्विख्यात संस्थापक नागार्जुन का सम्बन्ध भी किसी समय नालन्द-विश्वविद्यालय से था।

नालन्द के प्रायः सभी अध्यापक और विद्यार्थी धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे। असल में धार्मिक जीवन बिताने के लिए ही इसकी सृष्टि हुई थी; इसीलिए इसका नाम "धर्मगंज" पड़ा था। परन्तु पीछे इसकी काया पलट गई थी। दर्शन और धर्मशास्त्र के साथ साथ व्याकरण, ज्योतिष, काव्य, वैद्यक आदि व्यावहारिक और सांसारिक विद्यायें भी पढ़ाई जाने लगी थीं। तमाम हिन्दुस्तान के विद्यार्थी इन विद्याओं को पढ़ने के लिए यहाँ आते थे।

श्री धन्यकटक का विश्वविद्यालय

इस युग का दूसरा प्रसिद्ध विश्वविद्यालय श्री धन्यकटक में था। यह स्थान दक्षिण भारत में, कृष्णा नदी के किनारे, वर्तमान अमरावती के स्तूपों के निकट था।

बौद्धधर्म के महायान-सम्प्रदाय के चौदहवें धर्मगुरु, विख्यात रसायन-शास्त्रवेत्ता और चिकित्सक, नागार्जुन के समय में यह ख़ूब उन्नत दशा में था और देश-देशान्तरों में प्रसिद्ध हो गया था। चीन यात्री इत्सिंग के कथनानुसार नागार्जुन महाशय ईसा की चौथी शताब्दी में थे।

यहां पर वैदिक और बौद्ध दोनों प्रकार के ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे। तिब्बत की राजधानी लासा के निकट डायंग-विश्वविद्यालय इसी के नमूने पर बनाया गया था। पठन-पाठन-विधि वहाँ भी वैसी ही थी जैसे कि नालन्द में।

ओदन्तपुरी और विक्रमशिला के विश्वविद्यालय

यह हम लिख चुके हैं कि बौद्ध काल का तीसरा युग सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इस समय के बौद्ध महन्तों में पहले का जैसा धार्मिक उत्साह बाक़ी न था; परन्तु वैज्ञानिक खोज करने का जोश ख़ूब बढ़ गया था। वैद्यक और रसायन-शास्त्र में उन लोगों ने अच्छी उन्नति की थी। इस तान्त्रिक बौद्ध धर्म का प्रचार बंगाल और बिहार में बहुत था। उन दिनों मगध में पाल-वंश के राजा राज्य करते थे। उन्हीं के समय में बौद्ध उपदेशकों

ने तिब्बत आकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इस युग में दो मुख्य विश्वविद्यालय थे एक ओदन्तपुरी में, दूसरा विक्रमशिला में। ये दोनों स्थान बिहार-प्रान्त में हैं। मगध में पालवंश का राज्य होने के बहुत दिन पहिले ओदन्तपुरी में एक बड़ा भारी विहार बनाया गया था। इसी विहार के नाम पर कुल प्रान्त का नाम विहार पड़ गया और पुराना नाम मगध लुप्त हो गया। महाराज महीपाल के पुत्र महापाल के समय में ओदन्तपुरी-विश्वविद्यालय में बौद्ध धर्म के हीनयान-सम्प्रदाय के एक हजार और महायान-सम्प्रदाय के पाँच हजार महन्त रहते थे। पालवंश के राजों ने ओदन्तपुरी-विश्वविद्यालय में एक बड़ा भारी पुस्तकालय स्थापित किया था। उसमें वैदिक और बौद्ध दोनों प्रकार के हजारों ग्रन्थ थे। सन् १२०२ ईसवी में मुसलमानों ने इस पुस्तकालय को जला दिया और महन्तों का क़त्लेआम करके विहार को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। श्रीधन्यकटक-विश्वविद्यालय की तरह ओदन्तपुरी के नमूने पर भी तिब्बत में शाक्य नामक एक विश्वविद्यालय खोला गया था।

पाल राजे बड़े ही विद्यारसिक और विद्वानों के संरक्षक थे। उनका सम्बन्ध एक और विश्वविद्यालय से भी था। उसका नाम था विक्रमशिला। यह विद्यालय भागलपुर ज़िले के अन्तर्गत, सुलतानगंज गाँव के निकट, गंगा के दाहिने किनारे, एक पहाड़ी की चोटी पर था। सब मिलाकर कोई एक सौ आठ भवन थे। इस विश्व-विद्यालय के अधीन छः महाविद्यालय थे, जिनमें एक

सौ साठ पंडित पढ़ाते थे। इन सब पंडितों तथा अन्य अतिथि विद्वानों का खर्च पूर्वोक्त महाराज के दिये हुए गाँवों की आमदनी से चलता था। बीच का भवन विज्ञान-मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था। उसमें विहार के महन्त उन पंडितों से बौद्ध-ग्रन्थ पढ़ते थे जो विश्वविद्यालय के प्रथम और द्वितीय स्तम्भ कहलाते थे। राजा जयपाल के शासन-काल में विश्वविद्यालय की देखभाल के लिए छः द्वार-पंडित नियत थे। इसी समय महात्मा जेतारि ने एक सत्र स्थापित किया था। उसमें विक्रमशिला के विद्यार्थियों को मुफ़ भोजन मिलता था। विद्यालय के स्थायी विद्यार्थियों को भोजन देने के लिए चार सत्र पहले ही से थे। इनके सिवा वारेन्द्र के अधीश महाराज सनातन ने दशवीं शताब्दी के आदि में एक सत्र और भी खोला था। विश्वविद्यालय के प्रबंध के लिए छः विद्वानों की एक सभा थी, जिसका सभापति सदा राज-पुरोहित होता था। महाराज धर्मपाल के समय में अध्यक्ष के पद पर श्रीबुद्धज्ञानपादाचार्य्य नियुक्त थे। ग्यारहवीं शताब्दी में इस पद पर श्रीयुत दीपांकुर या दीपंकर महाशय नियत थे। अपने समय के ये बड़े विख्यात विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता की प्रशंसा सुन कर तिब्बतवालों ने इन्हें अपने यहाँ बुलवाया था। इस विश्वविद्यालय से पढ़कर जो विद्यार्थी निकलते थे उनको पंडित की पदवी दी जाती थी। अपने समय के सबसे बड़े नैयायिक पंडित जेतारि ने इसी विश्वविद्यालय के पंडित की पदवी और राजा महीपाल का हस्ताक्षरित प्रमाण-पत्र पाया था। महाराज

उनकी गहरी विद्वत्ता से इतने प्रसन्न हुए थे कि उन्होंने उनको द्वारपंडित के प्रतिष्ठित पद पर नियत किया था। सन १८३ ईसवी में काश्मीर-निवासी रत्नवज्र नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् ने भी यहाँ से पंडित की पदवी और राजा चणाक का हस्ताक्षरित प्रमाण-पत्र पाया था। इस विश्वविद्यालय में व्याकरण, अभिधर्म (बौद्ध-मनोविज्ञान), दर्शन-शास्त्र, विज्ञान, वैद्यक आदि कई विषय पढ़ाये जाते थे। तिब्बत के लामा विक्रमशिला में आते थे और वहाँ के पंडितों की सहायता से संस्कृत-ग्रंथों का अनुवाद तिब्बती भाषा में करते थे। सन् १२०३ ईसवी में बख्तियार खिलजी ने इस विहार पर आक्रमण किया और इसे लूट-पाट कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। भारतवर्ष के अन्य बौद्ध-विहारों की भी यही दशा हुई।

[जनवरी १९०९

१३–बौद्धों के द्वारा अमेरिका का आविष्कार

सारे सभ्य संसार का यह विश्वास है कि सन् १४९२ ईसवी में कालम्बस साहब ही ने पहिले पहल अमेरिका का आविष्कार किया था। उनके पहले कोई बाहरी मनुष्य अमेरिका में न गया था। यह विचार केवल यूरोपियनों ही का नहीं, किन्तु एशिया-वालों का भी है। पर सर्वसाधारण का यह मत भ्रमात्मक है। कोलम्बस के सैकड़ों वर्ष पहले बौद्ध-धर्म-प्रचारक-गण अमेरिका गये थे और वहाँ उन्होंने बौद्ध-धर्म और एशियाई सभ्यता का प्रचार किया था। अमेरिका के कई स्थानों में इस बात के प्रमाण पाये गये हैं।

अमेरिका में हारपर्स मैगज़ीन (Harpers Magazine) नाम का एक मासिक पत्र निकलता है। उसमें, कई साल हुए, पूर्वोक्त विषय पर एक महत्वपूर्ण लेख निकला था। उसके लेखक अध्यापक जान फ्रायर ने उसमें यह सिद्ध किया था कि अमेरिका का पता पहले पहल बौद्धों ही ने लगाया था और वहाँ के मेक्सिको देश में बौद्ध धर्म्म और सभ्यता का प्रचार भी किया था। फ्रायर साहब के लेख का सारांश सुनिए—

बौद्ध लोगों ने अपने धर्म का प्रचार करने में बड़े ही अपूर्व साहस का परिचय दिया है। एशिया में शायद ही ऐसा कोई देश

हो जहाँ उन्होंने अपने धर्म का प्रचार न किया हो। भारतवर्ष, लंका, ब्रह्मदेश, सुमात्रा, जावा, चीन, जापान, तुर्किस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, एशिया माइनर आदि न मालूम कितने देशों में घूम घूम कर उन लोगों ने अपने मत का प्रचार किया था। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म एशिया में उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था। इसी समय काबुल, चीन और जापान के कुछ बौद्धों ने अमेरिका के मेक्सिको राज्य में जाकर अपने धर्म का प्रचार किया।

मेक्सिको से पूर्वोक्त मत के प्रमाणस्वरूप बौद्धों के बहुत से चिह्न पाये जाते हैं। उनमें से वहाँ के बौद्ध-युग का भास्कर्य और स्थापत्य सबसे अधिक विश्वसनीय है। इसके चिह्न मेक्सिको के घर घर में पाये जाते हैं। इसके सिवा वहाँ के नगरों और ग्रामों से भी यह मालूम होता है कि मेक्सिको में बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत दिनों तक रहा। उदाहरणार्थ ग्वाटीमाला (Guatimala) को लीजिए। वह "गौतमालय" का अपभ्रंश है। Oaxaca, Zacaticas, Sacatopec, Zacattond, Sacapulas आदि स्थानों के नाम भी शाक्य शब्द की छाया पर बने हैं। इस बात को सब लोग जानते हैं कि संस्कृत का 'श' अक्षर अन्य भाषाओं में 'ह', 'ज' अथवा 'ख' बन जाता है। इसलिए शाक्य से साका और जाकरा आदि हो जाना कुछ विचित्र नहीं। मेक्सिको में पाल के नाम एक स्थान है। वहाँ बुद्ध की एक मूर्त्ति मिली है। उस मूर्त्ति पर लिखा है—'शाकोमल'। हमारी समझ में यह शब्द

'शाक्यमुनि' का अपभ्रंश है। तिब्बत के बौद्ध लोग अपने पुरोहित को 'लामा' कहते हैं। मेक्सिको में बौद्ध मत और बुद्ध-मूर्त्तियाँ सैकड़ों की तादाद में पाई गई हैं। इसके सिवा वहाँ ऐसे कई प्राचीन शिलालेख भी मिले हैं जिनसे यह मालूम होता है कि प्राचीन मेक्सिकोवासी बौद्धधर्मावलम्बी थे और गौतमबुद्ध की पूजा करते थे।

चीन के इतिहास-लेखक मातवानलिन कहते हैं कि—"कफिन देश (काबुल) का निवासी हुईशेन (हयसेन) नामक एक बौद्ध सन्यासी, ४९९ ईसवी में फुसांग देश से चीन में आया था। उसने चीन के तत्कालीन सम्राट् यूंगयुआन को बहुत कुछ नजर भी दी थी। सम्राट् ने युकी नाम के मन्त्री को हुईशेन का भ्रमण-वृत्तान्त लिखने की आज्ञा दी थी"। चीनी भाषा में लिखा हुआ हुईशेन का भ्रमण-वृत्तान्त अब तक मौजूद है। उसमें हुईशेन ने कहा है कि सम्राट् सामिंग के राजत्वकाल (४५८ ईसवी) में काबुल बौद्ध का केन्द्र-स्थान था। उसके पहले वहाँ के पाँच बौद्ध भिक्षु फुसाँग देश को गये थे और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया था।

फुसाँग देश चीन से कोई २०००० ली, अर्थात् ६५०० मील दूर है। वह १०००० ली, अर्थात् ३२५० मील, चौड़ा है और चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है।

फुसाँग एक प्रकार का वृक्ष होता है। यह वृक्ष पूर्वोक्त फुसाँग देश में बड़ी कसरत से होता है। हुईशेन ने उसी वृक्ष के नाम

पर पूर्वोक्त देश का नाम फुसांग देश रक्खा था। मेक्सिकोवाले आज कल फुसांग वृक्ष को आगेवी कहते हैं। उपर्युक्त चीनी ग्रन्थ में फुसाँग वृक्ष का जो वर्णन लिखा है वह आगेवी से बिलकुल मिलता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि फुसांग देश और मेक्सिको देश एक ही हैं और काबुली बौद्धों ने वहाँ जाकर बुद्ध-धर्म का अवश्य प्रचार किया था। कहते हैं कि फुसांग वृक्ष की छाल में एक प्रकार का जन्तु होता है। वह रेशम की तरह होता है। हुईशेन ने अन्यान्य बहुमूल्य वस्तुओं के साथ उसे भी चीन-सम्राट् को भेंट किया था। हुईशेन ने एक जगह कहा है कि फुसांग-प्रदेश में चाँदी, सोना, लोहा, ताँबा बहुत होता है। कोलम्बस ने भी इस बात को प्रत्यक्ष देखा था। वह तो अपने साथ बहुत सा सोना-चाँदी स्पेन को लाया भी था।

फुसाँग देश और मेक्सिको एक ही हैं। इसका एक और भी प्रमाण सुनिए। मेक्सिकोवाले कहते हैं कि प्राचीन काल में एक श्वेतकाय दीर्घपरिच्छदधारी महापुरुष मेक्सिको में आया था। वह लोगों को नीति और धर्म की शिक्षा दिया करता था। उसका नाम हुई-शीयेकोको था। मालूम होता है कि यह नाम हुईशेन भिक्षु का अपभ्रंश है। मेक्सिको के एक और महापुरुष के सम्बन्ध में भी ऐसी ही किंवदन्ती है। इन लोगों की शिक्षा और धर्म-प्रचार का जैसा वर्णन पाया जाता है उससे मालूम होता है कि ये लोग बौद्ध थे।

काबुल, चीन और जापान के बौद्ध संन्यासी देश-देशान्तरों

में सदा धर्म्म प्रचार करते फिरते थे। पहले वे निकट के द्वीपों में प्रचार करने जाते थे। वहाँ से आगे के अन्य द्वीपों का संवाद पाकर वे वहां भी जाया करते थे। योंही धीरे-धीरे आगे बढ़ते बढ़ते वे दूर दूर के द्वीपों और देशों में पहुँच जाते थे और वहाँ अपने धर्म्म का प्रचार करते थे। मालूम होता है कि इसी तरह प्रचार करते करते वे अमेरिका पहुँचे थे। अमेरिका का अलास्का प्रदेश चीन के निकट है। बहुत संभव है कि इसी रास्ते बौद्ध लोग वहाँ गये हों। क्योंकि अलास्का से मेक्सिको तक समुद्र के किनारे किनारे जितने प्रदेश हैं उन सब में बौद्ध धर्म्म और सभ्यता के चिह्न पाये जाते हैं। यद्यपि इनमें से अधिकांश चिह्न स्पेनिश लोगों ने नष्ट कर दिये हैं, तथापि अभी बहुत कुछ अवशिष्ट हैं।

यह लिखा जा चुका है कि मेक्सिको के स्थानों और पुरोहितों के नामों में बुद्ध धर्म की झलक पाई जाती है। इसके कुछ उदाहरण भी दिये गये हैं। एकाध और भी सुनिए। मेक्सिको वाले अपने प्रधान पुरोहित को देशाक्का या शाक्का पुरुष कहते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शब्द शाक्य का रूपान्तर मात्र है। एक अन्य पुरोहित का नाम कौनर शाक्का था। यह शब्द गोतम शाक्य का बिगड़ा हुआ रूप मालूम होता है।

मेक्सिको में जितने शिला-लेख, मूर्तियां और मन्दिर आदि मिले हैं उनमें से अधिकांश बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखते हैं। बौद्ध-मन्दिर और दीर्घपरिच्छद-धारी बौद्ध पुरोहित मेक्सिको में

जगह जगह देखे जाते हैं। नाना प्रकार की बुद्ध-मूर्तियों की भी वहां कमी नहीं है। सुनते हैं कि गणेश और राहु आदि की मूर्तियाँ भी मेक्सिको में मिली हैं।

पर जितने प्रमाण दिये गये हैं उन सब से सिद्ध है कि प्राचीन काल में एशिया के बौद्ध संन्यासी अमेरिका गये थे और वहां उन्होंने बौद्ध-धर्म्म का प्रचार किया था। साथ ही साथ यह भी मालूम होता है कि वही लोग अमेरिका के वास्तविक आविष्कारक थे, न कि कोलम्बस और उसके साथी। इसलिए उस यश के सच्चे अधिकारी बौद्ध संन्यासी ही हैं जो इस प्रसंग में कोलम्बस को प्राप्त हुआ है।

[दिसम्बर १९०६

१४—फा-हियान की भारत-यात्रा

प्राचीन भारत के इतिहास का थोड़ा-बहुत पता जो हमें लगता है वह ग्रीक और चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त से लगता है। ग्रीस वाले इस देश में सैनिक, शासक, अथवा राजदूत बनकर आते थे। इसी से इनके लेखों में अधिकतर भारतीय राजनीति, शासन-पद्धति और भौगोलिक बातों ही का उल्लेख है। उन्होंने भारतीय धर्म और शास्त्रों की छानबीन करने की विशेष चिन्ता नहीं की। चीनी यात्रियों का कुछ और ही उद्देश्य था। वे विद्वान थे। उन्होंने हज़ारों मील की यात्रा इसलिए की थी कि वे बौद्धों के पवित्र स्थानों का दर्शन करें, बौद्ध धर्म की पुस्तकें एकत्र करें और उस भाषा को पढ़ें जिसमें वे पुस्तकें लिखी गई थीं। इन यात्राओं में उनको नाना प्रकार के शारीरिक क्लेश सहने पड़े; कभी वे लूटे गये, कभी वे रास्ता भूल कर भयङ्कर स्थानों में भटकते फिरे और कभी उन्हें जंगली जानवरों का सामना करना पड़ा। परन्तु इतना सब होने पर भी वे केवल विद्या और धर्म-प्रेम के कारण भारतवर्ष में घूमते रहे। चीनी यात्रियों में तीन के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं—पहला फा-हियान, दूसरा संगयान और तीसरा ह्वेनसांग। इन तीनों ने अपनी अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा है। इसका अनुवाद अँगरेज़ी, फ्रेंच

आदि यूरप की भाषाओं में हो गया है। उनसे भारतीय सभ्यता का बहुत कुछ पता चलता है। प्रसिद्ध चीनी यात्रियों में फा-हियान सबसे पहले भारत में आया। उसी की यात्रा का संक्षिप्त हाल नीचे लिखा जाता है।

फा-हियान मध्य-चीन का निवासी था। ४०० ईसवी में वह अपने देश से भारत-यात्रा के लिए निकला। इस यात्रा से उसका मतलब बौद्ध तीर्थों के दर्शन और बौद्ध धर्म की पुस्तकों का संग्रह करना था। उन दिनों चीन से भारतवर्ष आने के दो रास्ते थे। एक रास्ता खुतन नगर के पश्चिम से होता हुआ भारतीय सीमा पर पहुँचता था। यह रास्ता कुछ चक्कर का था। इसीसे भारत और चीन के मध्य व्यापार होता था। दूसरा रास्ता जल द्वारा जावा और लङ्का के टापुओं से होकर था। यह रास्ता पहले से सीधा तो था, परन्तु पीत-समुद्र के तूफानों ने इस सुगम जलमार्ग को बड़ा भयानक बना रक्खा था। फा-हियान निडर मनुष्य था। वह भारत आया तो खुतन के रास्ते ही से, परन्तु स्वदेश को लौटा लङ्का और जावा के रास्ते।

फा-हियान के साथ और भी कितने ही मुसाफिर थे। खुतन पहुँचने के लिए लाप नामक जंगल से होकर जाना पड़ता था। इस जङ्गल में यात्रियों को बड़ा कष्ट सहना पड़ता। कोसों पानी न मिलता। सूर्य्य की गरमी ने और भी गजब ढाया। प्यास के मारे यात्रियों का बुरा हाल हुआ। समय समय पर रास्ता भूल जाने के कारण भी उन पर बड़ी विपत्ति पड़ी। जब वे सब, किसी

तरह, लाप नामक झील के किनारे पहुँचे तब उनकी बड़ी बुरी दशा थी। कितने ही यात्रियों के छक्के छूट गये और उन्होंने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया। पर फा-हियान ने हिम्मत न हारी। वह दो-चार मित्रों सहित आगे बढ़ा और नाना प्रकार के कष्टों को सहता हुआ, दो मास में, खुतन पहुँचा। लोगों ने खुतन में उनका अच्छा आदर-सत्कार किया। उस समय खुतन एक हरा-भरा बौद्ध राज्य था। पर इस समय खुतन उजड़ा पड़ा है। परन्तु, हाल ही में, डाक्टर स्टीन ने उसकी पूर्व-समृद्धि के बहुत से चिह्न पाये हैं। प्राचीन महलों, स्तूपों, विहारों और बागों के न मालूम कितने चिह्न उन्हें मिले हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी है, जो बड़े महत्व की है।

खुतन से फा-हियान काबुल आया। उस समय काबुल उत्तरीय भारत के अन्तर्गत था। काबुल से वह स्वात, गान्धार और तक्षशिला होता हुआ पेशावर पहुँचा। पेशावर में उसने एक बड़ा ऊँचा, सुन्दर और मजबूत बौद्ध स्तूप देखा। सिन्धु नदी पार करके वह मथुरा आया। मथुरा का हाल वह इस प्रकार वर्णन करता है—

मथुरा में, यमुना के दोनों किनारों पर, बीस संघाराम हैं, जिनमें लगभग ३००० साधु रहते हैं। बौद्धधर्म्म का खूब प्रचार है। राजपूताना के राजा बौद्ध हैं। दक्षिण की ओर जो देश है वह मध्य-देश कहलाता है। इस देश का जल-वायु न बहुत उष्ण है, न बहुत शीतल। बर्फ अथवा कुहरे की अधिकता नहीं है।

प्रजा सुखी है। उन्हें अधिक कर नहीं देना पड़ता। शासक लोग कठोरता नहीं करते। जो लोग भूमि जोतते और बोते हैं उन्हें अपनी पैदावारी का एक निश्चित भाग राजा को देना पड़ता है। लोग अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जहां आ जा सकते हैं। अपराधी को उसके अपराध के गौरव-लाघव के अनुसार भारी अथवा हल्का दंड दिया जाता है। शारीरिक दण्ड बहुत कम दिया जाता है। बार बार विद्रोह करने पर कहीं दाहिना हाथ काटे जाने का दण्ड दिया जाता है। राजा के शरीर-रक्षकों को नियत वेतन मिलता है। देश भर में जीवहत्या नहीं होती। चाण्डालों के अतिरिक्त कोई मद्यपान नहीं करता और न कोई लहसुन और प्याज ही खाता है। इस देश में न तो कोई मुर्गी ही पालता है और न बतख ही। पालतू पशु भी कोई नहीं बेचता। बाजारों में पशु-वध अथवा मांस बेचने की दुकानें नहीं। सौदा-सुलफ में कौड़ियों का व्यवहार होता है। केवल चाण्डाल ही पशु-वध करते और मांस बेचते हैं। बुद्ध भगवान् के समय से यहां की यह प्रथा है कि राजा, महाराजा, अमीर, उमराव और बड़े आदमी विहार-निर्माण करते हैं और उनके खर्च के लिए भूमि इत्यादि का दान-पत्र लिख देते हैं। पीढ़ियां गुजर जाती हैं पे विहार ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। उनका खर्च दान दी हुई भूमि की आमदनी से चलता रहता है। उस भूमि को कोई नहीं छीनता। विहारों में रहने-वाले साधुओं को वस्त्र, भोजन और बिछौना मुफ़ मिलता है।

मथुरा से फा-हियान कन्नौज आया। वह नगर, उस समय, गुप्त राजों की राजधानी था। उसने कन्नौज के विषय में इसके सिवा और कुछ नहीं लिखा कि वहाँ संघाराम थे। कौशल-राज्य की प्राचीन राजधानी श्रावस्ती उजाड़ पड़ी थी। उसमें केवल दो सौ कुटुम्ब निवास करते थे। जेतवन, जहाँ भगवान् बुद्ध ने धर्मोपदेश किया था, अच्छी दशा में था। वहाँ एक सुन्दर विहार था। विहार के पास एक तालाब था, जिसका जल बड़ा निर्मल था। कई बाग भी थे, जिनसे विहार की शोभा बहुत बढ़ गई थी। विहार में रहने वाले साधुओं ने फा-हियान का हर्ष-पूर्वक स्वागत किया और उसकी इस कारण बड़ी बड़ाई की कि उसने यात्रा धर्मप्रेम के वशीभूत होकर की थी।

भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान, कपिल-वस्तु, की दशा, फा-हियान के समय में, बुरी थी। वहाँ न कोई राजा था, न प्रजा। नगर प्रायः उजाड़ था। केवल थोड़े से साधु और दस-बीस अन्य जन वहां थे। कुशीनगर भी, जहां भगवान् बुद्ध की मृत्यु हुई थी, बुरी दशा में था। उस वैसाली नगर को, जहाँ बौद्ध धर्म की पुस्तकों का संग्रह करने के लिए बौद्धों का दूसरा सम्मेलन हुआ था, फा-हियान ने अच्छी दशा में पाया। प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर के विषय में फा-हियान ने लिखा है कि उसका पुराना राजमहल बड़ा विचित्र है। उसको बनाने में बड़े बड़े पत्थरों से काम लिया गया है। मनुष्यों के हाथों से वह न बना होगा। बिना आसुरी शक्ति के कौन इतने बड़े बड़े पत्थर ऊपर चढ़ा सका होगा। अवश्य ही

अशोक ने उसे असुरों द्वारा बनवाया होगा। फा-हियान का कथन है कि अशोक के स्तूप के समीप ही एक सुन्दर संघाराम बना हुआ है, जिसमें लगभग छः सात सौ साधु रहते हैं। प्रति वर्ष दूसरे महीने के आठवें दिन वहां एक उत्सव होता है। उस अवसर पर चार पहियों का एक रथ बनाया जाता है। उस रथ के ऊपर पाँच खण्ड का एक मन्दिर रक्खा जाता है। मन्दिर बांसों का बनता है। उसके बीच में सात आठ गज लम्बा एक बांस रहता है। वही उसे साधे रहता है। मन्दिर श्वेत वस्त्र से मढ़ दिया जाता है। पर उसका पिछला भाग चटकीले रङ्गों से रँगा रहता है। सुन्दर रेशम के शामियानों के नीचे देव-मूर्तियां, वस्त्राभूषण से सजा कर रक्खी जाती हैं। रथ के चारों कोनों में चार ताक रहते हैं। उन ताकों में बुद्ध भगवान् की बैठी हुई मूर्ति स्थापित की जाती है। इस प्रकार के कोई बीस रथ तैयार किये जाते हैं। उत्सव के दिन बड़ी भीड़ होती है। खेल तमाशे होते हैं और मूर्तियों पर फूल आदि चढ़ाये जाते हैं। उस दिन बौद्ध लोग नगर में प्रवेश करते हैं। वहीं वे ठहरते हैं और सारी रात हर्ष मनाते हैं। इस अवसर पर दूर दूर से लोग आते हैं और उत्सव में सम्मिलित होते हैं। धनवान लोगों ने नगर में कितने ही औषधालय खोल रक्खे हैं, जहाँ दीन-दुखियों, लँगड़े-लूलों और अन्य असमर्थ जनों का इलाज होता है। उनको हर प्रकार की सहायता दी जाती है। वैद्य उनके रोगों की परीक्षा कर के औषधि सेवन कराते हैं। वे वहीं रहते हैं

और पथ्य भी उन्हें वहीं मिलता है। नीरोग हो जाने पर वे अपने घर चले जाते हैं।

राजगृह में पहला बौद्ध-सम्मेलन हुआ था। इसलिए उसे देखता हुआ फ़ा-हियान गया पहुँचा। गया में उसने बोधि-वृक्ष और अन्य पवित्र स्थानों के दर्शन किये। वह काशी और कौशाम्बी भी गया। काशी में उस स्थान पर, जहाँ भगवान् बुद्ध ने पहली बार सत्य का उपदेश दिया था, दो संघाराम थे। काशी से वह फिर पाटलिपुत्र लौट गया। फ़ा-हियान चीन से धार्मिक पुस्तकों की खोज में चला था। पाटलिपुत्र में विनयपीठक की एक प्रति उसके हाथ लग गई। पुस्तक लेकर वह अङ्गदेश की राजधानी चम्पा होता हुआ ताम्रलिप्ति (तमलुक) पहुँचा। वहाँ उसने बौद्ध धर्म का अच्छा प्रचार देखा। उस नगर में २४ संघाराम थे। फ़ा-हियान वहाँ दो वर्ष तक रहा। यह समय उसने धर्म-पुस्तकों की नक़ल करने में खर्च किया। तत्पश्चात् जहाज़ पर सवार होकर, लगातार १४ दिन और यात्रा करके वह सिंहल-द्वीप पहुँचा। वहां से वह अनिरुद्धपुर गया। बौद्धस्तूप और बोधि-वृक्ष के भी उसने दर्शन किये। लङ्का में उसने कुछ और भी धर्म-पुस्तकों का संग्रह किया। लङ्का का वर्णन वह इस तरह करता है—

"लङ्का में पहले बहुत कम मनुष्य रहते थे। धीरे धीरे व्यापारी लोग वहाँ आने लगे। अन्त में वह वहाँ बस गये। इस प्रकार वहाँ की आबादी बढ़ी और राज्य की नींव पड़ी। वहाँ

भगवान बुद्ध गये।* उन्होंने वहाँ के निवासियों को बौद्ध बनाया। लङ्का का जल-वायु अच्छा है। सब्जी बहुत होती है। राजधानी के उत्तर में एक बड़ा ऊंचा स्तूप है। समीप ही एक संघाराम भी है, जिसमें ५००० साधु रहते हैं।"

फ़ा-हियान लङ्का में दो वर्ष रहा। उसे स्वदेश छोड़े बहुत वर्ष हो गये थे। इससे उसने चीन लौट जाना चाहा। उसी समय एक व्यापारी ने उसे चीन का बना हुआ एक पङ्खा भेंट किया। अपने देश की बनी हुई वस्तु देख कर फ़ा-हियान का जी भर आया। उसके नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली। अन्त में उसे स्वदेश लौट जाने का एक साधन भी प्राप्त हो गया। एक जहाज, दो सौ यात्रियों सहित, उस ओर जाता था। वह भी उसी पर बैठ गया। जहाज को हलका करने के लिए खलासी जहाज पर लदी हुई चीजों को समुद्र में फेंकने लगे। बहुत माल-असबाब फेंक दिया गया। फ़ा-हियान ने अपने सारे बर्त्तन तक समुद्र में, इस डर के मारे, फेंक दिये कि कहीं इनके मोह में पड़ने के कारण लोग उसकी अमूल्य पुस्तकें और मूर्तियां समुद्र के हवाले न कर दें। तेरह दिन की कठिन तपस्या के बाद, एक छोटा सा टापू मिला। वहां जहाज की मरम्मत हुई। सैकड़ों कष्ट सहने पर ९० दिन बाद जहाज जावा-द्वीप में पहुँचा। जावा में उस समय बौद्ध और ब्राह्मण-धर्म, दोनों का, प्रचार था।

फ़ा-हियान जावा में पाँच महीने रहा। तत्पश्चात् वह

---

* भगवान् बुद्ध लङ्का कभी नहीं गये।

एक और जहाज़ पर सवार हुआ। चलने के एक महीने बाद उस जहाज़ का भी कील-काँटा बिगड़ा। यह देख कर मल्लाहों ने सलाह की कि जहाज़ पर शर्मण फ़ा-हियान के होने ही के कारण हम पर यह विपत्ति आई है। अतएव कोई टापू मिले तो उसे वहीं उतार दें, जिसमें जहाज़ की यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो। यह वहाँ चाहे मरे चाहे बचे। इस जहाज़ के यात्रियों में एक व्यापारी बड़ा सज्जन था। वह फ़ाहियान से प्रेम करने लगा था। उसने मल्लाहों की इस सलाह का घोर प्रतिवाद किया। उसी के कारण बेचारा फ़ा-हियान, किसी निर्जन टापू में छोड़ दिये जाने से बच गया। ८२ दिन की यात्रा के बाद, दक्षिणी चीन के समुद्र-तट पर, वह सकुशल उतर गया और अपनी जन्मभूमि के पुनर्वार दर्शनों से उसने अपने को कृतकृत्य माना।

[दिसम्बर १९१५

१७—प्राचीन भारत में युद्ध-व्यवस्था

प्राचीन समय से लेकर आज तक भारत ने युद्ध के अनेक प्रकार के दृश्य दिखाये हैं। प्राचीन भारत के जातीय जीवन में युद्ध एक मामूली बात थी। पहले भारत में आते ही आर्य्यजाति को अनेक युद्ध करने पड़े। उन्हें यहाँ के प्राचीन निवासियों के साथ तो लड़ना ही पड़ा, पर परस्पर भी उनमें खूब युद्ध होता था। ऋग्वेद में वशिष्ठ और विश्वामित्र के युद्ध का वर्णन इस बात का प्रमाण है। आर्य्य-जाति ने युद्धों ही में परास्त करके यहाँ के प्राचीन निवासियों को अपना दास बनाया। दास के जो कार्य निर्दिष्ट हैं वे इन लोगों के ऊपर हमारी जीत की इस समय भी गवाही दे रहे हैं। आर्यों को, राक्षस और दानव कहे जाने वाले बाहरी शत्रुओं से भी खूब लड़ना पड़ा। उन्होंने इन लोगों के साथ कई बार बड़े-बड़े युद्ध किये। इनका वर्णन वेदों तक में पाया जाता है। राक्षसों के साथ आर्य्य-जाति को निरन्तर युद्ध करना पड़ा। इसीसे उस समय आर्यों को अपना समुदाय तीन भागों में विभक्त करना पड़ा—पहला ब्राह्मण, दूसरा क्षत्रिय नाम से अभिहित हुआ। ब्राह्मणों का कार्य देश में शान्ति-स्थापना और क्षत्रियों का अपने देश की रक्षा शत्रुओं से करना निश्चित हुआ।

ये दो विभाग हो जाने से कृषि, वाणिज्य आदि अन्यान्य कार्य करने वाले तीसरे विभाग में गिने गये। वे वैश्य कहलाये।

आर्यों के वैदिक देवता भी बड़े युद्ध-प्रिय थे। युद्ध करना उनका स्वाभाविक काम था। युद्ध में इन्द्र की अच्छी प्रतिष्ठा थी। युद्ध ही में विजय पाने के कारण इन्द्रदेव इन्द्रासन के मालिक हुए हैं। आप देवराज भी, इसी कारण, कहलाये हैं। इन्द्र ने बड़े बड़े राक्षसों का वध किया है। वृत्रासुर, विप्रु और संवर आदि के अतिरिक्त और भी अनेक राक्षसों का आपने नाश किया है। हमारे प्राचीन कवियों ने इन्द्र के इस बड़े भारी महत्व के कारण अपनी कविताओं में उनके इन गुणों का खूब ही वर्णन किया है। वेदों में इन्द्र की अनेक स्तुतियां हैं। अग्नि, मित्र, वरुण, मरुत् और अश्विनीकुमार आदि भी युद्ध में विजयी हुए थे। इसीसे वे भी बड़े यशस्वी और प्रतिष्ठापात्र माने गये हैं। प्राचीन समय में, जब क्षत्रिय लोग युद्ध में जाने के लिए तैयार होते थे तब, अपने अपने इष्ट देवताओं से युद्ध में अपनी सहायता के लिए प्रार्थना करते थे। युद्ध के समय, प्राचीन काल में, सोमपान खूब किया जाता था। सोमपान से शरीर में बल की वृद्धि होती थी। और युद्ध में बलवान ही की जीत होती है। अध्यापक राज-गोपालाचार्य्य, एम० ए०, ने इस विषय में एक महत्त्व-पूर्ण लेख "इंडियन-रिव्यू" में प्रकाशित किया है। अँगरेजी न जानने वाले पाठकों के सुभीते के लिए उसका सारांश आगे लिखा जाता है।

हमारे यहां युद्ध दो प्रकार का था। एक धर्म-युद्ध, दूसरा

कूटयुद्ध। धर्म-युद्ध पूर्व-निश्चित नियमों के अनुसार होता था। कूटयुद्ध में नियमों की पाबन्दी न होती थी। छल, कपट और चालबाजी से एक दूसरे को हराने की चेष्टा करता था। कूटयुद्ध प्रायः राक्षस लोग ही करते थे। इसीलिए देवता भी उन्हें परास्त करने के लिए कूटयुद्ध का आश्रय लेने लग गये थे। पर कूटयुद्ध का महत्व कोई भी पक्ष स्वीकार नहीं करता था। जहां तक होता था, लोग धर्म-युद्ध का ही आश्रय लेना पसन्द करते थे। धर्म-युद्ध का अधिक महत्व होने पर भी लोग शस्त्रास्त्रों के नये नये आविष्कारों से उदासीन न थे। तरह तरह के धनुष, बाण, भाले, बर्छे और जिरह-बख़्तर आदि युद्धोपयोगी वस्तुओं का प्रचार धीरे धीरे खूब बढ़ गया था। युद्ध-विद्या में उस समय अच्छी तरक्की हो चुकी थी। प्राचीन आर्य्य छोटी ही छोटी लड़ाई न लड़ा करते थे। वे, लाखों मनुष्य एकत्र करके लड़ाई के मैदान में कभी कभी बाक़ायदा डट जाते थे। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में बड़े बड़े युद्धों का वर्णन है। रामायण के समय से लगा कर महाभारत के समय तक कई बड़े बड़े युद्ध हुए हैं। उनमें प्रत्येक पक्ष के योद्धाओं की संख्या लाखों थी। इस से सिद्ध है कि उस समय युद्ध-विद्या विशेष उन्नत हो गई थी और आर्य्य लोग खूब रण-निपुण हो चुके थे। चक्रव्यूह के सदृश कितने ही व्यूहों की रचना करके वे युद्ध करते थे। महाभारत में कई स्थानों पर इस प्रकार की रचनाओं का वर्णन है। एक व्यूह-रचना वे ऐसी करते थे जिसमें सैनिकों का मुँह चारों ओर शत्रु के सामने ही रहता

था; शत्रु का कोई भी अंश सेना के पीछे से आक्रमण न कर सकता था।

जो नवीन अस्त्र या शस्त्र पहले-पहल आविष्कृत होता था उसे धर्म-युद्ध के नियमानुसार कोई भी युद्ध के काम में न ला सकता था। उसको काम में लाने के लिए दोनों पक्षों की स्वीकृति दरकार होती थी। दोनों पक्ष उस आयुध को काम में लाना जब अच्छी तरह जान लेते थे तभी उसका व्यवहार होता था। यही बात, किसी समय, यूरोप में भी थी। लोग नवीन शस्त्रास्त्रों को राक्षसी या दानवी समझते थे। इसलिए धनुष और गोली-गोले आदि वहाँ बहुत पीछे से, धीरे धीरे काम में लाये जाने लगे। पहले पहल यूरोप में, अप्रचलित शस्त्रास्त्रों को काम में लानेवाले सैनिक, लड़ाई के मैदान में, बिना दोनों पक्षों की स्वीकृत के नहीं आ सकते थे। पर अब तो थल-सुरंग और जल-सुरंग जैसे भयानक और नाशक यन्त्रों के प्रयोग की भी कोई रोक टोक नहीं। सन् १९०७ ईसवी में, हेग की द्वितीय शान्ति-सभा ने, अपने तृतीय अधिवेशन तक के लिए इस विषय में एक नियम बना दिया था। इस नियम में हवाई जहाजों द्वारा गोले या बम फेंकने की, विशेष कर अरक्षित् स्थानों पर, मनाही है। पर वर्तमान घोर संग्राम में जर्मनी ने इस नियम को तोड़ डाला है। अब हवाई जहाजों से यथेच्छ धड़ाधड़ गोले बरसाये जा रहे हैं। यह कोई आश्चर्य्य-कारक और नई बात नहीं। हमारे यहां भी राक्षस लोग धर्म-युद्ध का तिरस्कार करके कभी कभी कूट-युद्ध करने लगते थे। उन्हें

परास्त करने के लिए देवता भी उसी नीति का अवलम्बन करते थे। इन्द्र ने वृत्रासुर को इसी तरह मारा था। इन्द्र का यह कार्य उस समय भी विशेष प्रशंसनीय न समझा गया था।

धीरे धीरे समय ने पलटा खाया और सभ्यता का प्रभाव अधिक पड़ने लगा। अतएव स्मृतियों और धर्म-शास्त्रों ने धर्म-युद्ध ही का अधिक महत्व निश्चित किया। स्मृतियों में राज-धर्म के साथ युद्ध का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। अर्थ-शास्त्र (Political Economy) में भी युद्ध और शासन-शक्ति की वृद्धि के कारणों पर विचार किया गया है। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में, महाभारत तथा कई एक पुराणों में, शुक्राचार्य, कामन्दक और कौटिल्य के ग्रन्थों में, युद्धविग्रह के तत्त्वों की खूब विवेचना की गई है। वह बड़े मारके की है। राजा को युद्ध से भूमि और शक्ति का लाभ तो होता है, पर उसे हानि भी बहुत उठानी पड़ती है। अर्थ-शास्त्र और स्मृति-ग्रन्थ युद्ध को केवल राज-धर्म निभाने के लिए ही उपयुक्त समझते हैं। युद्ध से प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे, इसलिए लड़ने वाले दोनों पक्षों को यथाशक्ति उद्योग करना पड़ता है। प्रजा से युद्ध का सम्बन्ध करना वे अनुचित समझते हैं।

महाभारत के शान्ति पर्व के अध्याय ५७ और ५८ में राज-नीति तथा राज-धर्म का अच्छा विवेचन है। उससे पता चलता है कि प्राचीन काल में राजा के अस्तित्व, राजा के संरक्षण और शत्रु-मित्र के साथ सन्धि तथा विग्रह के लाभों को लोग अच्छी

तरह समझते थे। राजनीति को रचना करनेवाले कितने ही महर्पियों के नाम महाभारत में हैं—

"बृहस्पतिर्हि भगवान् नान्यं धर्मं प्रशंसति।
विशालाक्षश्च भगवान् काव्यश्चैव महातपाः॥
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः।
भारद्वाजश्च भगवान् तथा गौरशिरा मुनिः॥
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्याब्रह्मवादिनः।"

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ५८, श्लो० १, २, ३।

इन ऋषियों के बाद शुक्राचार्य का नीतिसार, कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र और कामन्दक का नीतिसार आदि ग्रन्थ राजधर्म और राजनीति के नियमों से परिपूर्ण हैं। शुक्राचार्य का नीतिसार प्राचीन राजशास्त्रों के प्रणेता ऋषियों से कुछ पीछे का अवश्य है; पर है वह बड़े महत्व का। शुक्राचार्य के नीतिसार में राजा का कर्तव्य, शत्रु और मित्र का निर्देश, कोश और द्रव्य का संरक्षण, दुर्गों की रक्षा और सेना सजाना आदि कई विषय बड़े मार्के के हैं। अन्त में व्यवहार-शास्त्र पर भी एक अच्छा निबन्ध है।

शुक्राचार्य राक्षसों के गुरु माने जाते हैं। उन्होंने कूट-युद्ध और धर्म-युद्ध दोनों का वर्णन किया है। नियम और न्याय-पूर्वक जो युद्ध न हो उसे वे भी कूट-युद्ध अर्थात अधर्मयुद्ध मानते हैं। जिस प्रकार राक्षसों का कूट-युद्ध करना कहीं कहीं प्रसिद्ध है उसी प्रकार शुक्राचार्य ने राम, कृष्ण और इन्द्र आदि देवताओं का

भी कुट-युद्ध में प्रवृत्त होना साबित किया है। शुक्राचार्य प्रार्थना और खुशामद के द्वारा भी शत्रु से अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेना बुरा नहीं समझते। अपमान हो तो हर्ज नहीं, कार्य्य सिद्ध होना चाहिए। इसी से शुक्राचार्य की नीति का अधिक आदर नहीं हुआ।

कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र को प्राप्त हुए थोड़े ही दिन हुए। वे कौटिल्य, चाणक्य और विष्णुगुप्त आदि नामों से भी प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपनी नीतिज्ञता के कारण ही सारे नन्द-वंश को मटिया-मेट कर दिया। चन्द्रगुप्त को नन्द के राज्य का राजा बनाकर मौर्यवंश के शासन की नींव उन्होंने डाली। उनकी नीतिज्ञता और युद्ध-कुशलता आदि का चित्र मुद्राराक्षस में खूब खींचा गया है। उनका अर्थशास्त्र ईसा से ४०० वर्ष पूर्व का माना जाता है।

कामन्दक ने अपना नीतिसार बड़ी सरल भाषा में लिखा है। कामन्दक ने राजशास्त्र बनानेवाले प्राचीन ऋषियों का नाम दिया है और शुक्राचार्य के कूटयुद्ध की उपयोगिता स्वीकार की है। निर्बल राजा के सबल शत्रु के साथ युद्ध करने में कूटयुद्ध का आश्रय लेना कामन्दक के मत में बुरा नहीं। शत्रु की सोती हुई और असावधान सेना पर आक्रमण करना भी कामन्दक की दृष्टि में बुरा नहीं।

स्मृतियों और पुराणादिकों में धर्म-युद्ध ही को अधिक महत्व दिया गया है। कूटयुद्ध को लोग पाप-कर्म से कम नहीं समझते

थे। उस समय के राजशास्त्र और राज-धर्म आदि विषयों के ग्रन्थों से सूचित होता है कि तत्कालीन नरेश युद्ध करना केवल कठिन समस्याओं की पूर्ति के लिए उचित समझते थे। साधारण बातों के लिए युद्ध करना हेय और घृणा के योग्य समझा जाता था। पर, एक बार युद्ध में प्रवृत्त होकर उससे पीठ फेरना अत्यन्त निन्दनीय माना जाता था। जिस प्रकार युद्ध-क्षेत्र में मरना गौरवास्पद और स्वर्ग-प्राप्ति का कारण समझा गया है उसी प्रकार युद्ध से भागना निन्दनीय और नरक-प्राप्ति का कारण माना गया है।

कुछ ग्रन्थकारों ने विशेष कारण उपस्थित होने पर, युद्ध को महत्व भी दिया है। मनु महाराज लिखते हैं—

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रधर्ममनुस्मरन् ॥
संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानाञ्चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानाञ्च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥
आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युद्ध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥

अ० ७, श्लोक ८७, ८८, ८९

अर्थात् राजा को क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध से कभी न हटना चाहिए। क्षत्रिय के लिए युद्ध श्रेष्ठ कार्य है। परस्पर लड़ते हुए और एक दूसरे को मारते हुए जो लोग रणक्षेत्र में शरीर-त्याग करते हैं वे सीधे स्वर्ग चले जाते हैं।

याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी इसी प्रकार कहा गया है—

य आहवेषु वध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा॥
पदानि क्रतुतुल्यानि भग्नेष्वपि निवर्तिनाम्।
राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम्॥

अ० १, श्लो० ३२४—३२५।

मतलब यह कि वर्जित अस्त्र-शस्त्रों से लड़कर जो रण-भूमि में शरीर छोड़ते हैं वे योगियों के सदृश स्वर्ग को चले जाते हैं। जो लोग अपनी सेना के नष्ट हो जाने या भाग जाने पर रणक्षेत्र में डटे रहते हैं और आगे ही बढ़ते जाते हैं उन्हें पद पद पर यज्ञ का फल होता है। इसके विपरीत जो लोग भागकर मारे जाते हैं उनका सब पुण्य राजा को प्राप्त होता है।

शुक्राचार्य का भी यही मत है। उनके मत में जो रण-क्षेत्र में लड़ते हुए मारा जाता है वह सीधे स्वर्ग को जाता है और जो भागता है वह संसार में हेय, घृणित और नीच समझा जाता है। मरने पर उसे घोर नरक होता है।

शुक्रनीति की आज्ञा है कि स्त्री, बालक और गाय पर अत्याचार होता देखकर ब्राह्मण भी युद्ध करने लगे। ऐसे अवसर पर युद्ध करने से ब्राह्मण को पाप नहीं होता। इस नीति में यह भी लिखा है कि क्षत्रिय का बिस्तरे पर मरना पाप है। उसे रण-क्षेत्र ही में मरना चाहिए। रण-क्षेत्र में न मरने वाले के लिए खेद करना मूर्खता है।

श्रीमद्भगवतद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने धर्मयुद्ध का बड़ा महत्व सूचित किया है। वे कहते हैं--

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।

अर्थात्—क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध से बढ़ कर और कोई बात कल्याणकारी नहीं है। ऐसा युद्ध क्षत्रियों के लिये अपने आप ही खुले हुये स्वर्गद्वार के सदृश है।

गीता की इस अन्तिम बात से भी ज्ञात होता है कि हमारे यहां युद्ध को बड़ा महत्त्व दिया जाता था। महाभारत में "यतो-धर्मस्ततो जयः" कह कर धर्म-युद्ध की विशेष महत्ता सूचित की गई है।

हमारे नीतिशास्त्र में साम, दान, दण्ड और भेद ये चार नीतियां शत्रु को पराङ्मुख करने के लिए उपयुक्त मानी गई हैं। मनु महाराज युद्ध का मुख्य फल राजा के लिए भविष्यत् में एक अच्छा मित्र खोज लेना बतलाते हैं। वे धन या भूमि की प्राप्ति को अधिक महत्त्व नहीं देते। पूर्वोक्त चारों नीतियों में से किसी भी एक या एकाधिक के द्वारा मुख्य फल प्राप्त कर लेना ही, मनु के मत में, युद्ध का अन्तिम उद्देश होना चाहिए।

आज कल हम लोग जर्मनी की जासूसी का वृत्तान्त पढ़ कर आश्चर्य करते हैं। पर हमें स्मरण रखना चाहिए कि भारत में बहुत पहले जासूसी का प्रचार था। राजा का नाम चारचक्षु

अर्थात् जासूसों की आंखों से देखने वाला है। हर एक राजनीति के लेखक ने दूतों के काम निर्दिष्ट किये हैं। प्राचीन काल में दूतों के द्वारा ही युद्ध-घोषणा की सूचना दी जाती थी। दूत सदा अवध्य माने जाते थे। रामायण और महाभारत में इसके कई उदाहरण हैं। हनूमान् ने जब लंका दहन किया तब रावण उन पर बहुत कुपित हुआ। परन्तु विभीषण ने रावण से दूत का अवध्य होना बतलाकर हनूमान् को मुक्त करवा दिया। महाभारत में भी ऐसे ही कई उदाहरण पाये जाते हैं।

बौधायन, मनु और याज्ञवल्क्य आदि ने नियम बना दिये हैं कि किन शस्त्रों से लड़ना चाहिए, किन्हें मारना चाहिए और किन्हें न मारना चाहिए। इन नियमों से न्याय, विवेक और दया का भाव खूब झलकता है। देखिए--

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम्॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्॥

मनु०, अ० ७, श्लो० ९१—९३

याज्ञवल्क्य भी कहते हैं—

तवाहं वादिनं क्लीबं निर्हेतिं परसंगतम्।
न हन्याद्विनिवृत्तं च युद्धप्रेक्षणकादिकम्॥

पहले योरप में कुछ कुछ ऐसे ही नियम प्रचलित थे। वर्तमान युद्ध में तो नियमों की बहुत कुछ अवहेलना हो रही है, जो जर्मनी की उच्च सभ्यता का फल है।

ऊपर के प्रमाणों से भारत की सभ्यता का भी अच्छा परिचय मिलता है। भारतीय जन-समाज उस प्राचीन समय में भी उन्नति के जिस पथ पर था वह और देशों के लिए इस समय भी दुर्लभ है।

आज कल विपक्षी की प्रजा तथा भूमि और नगर आदि व्यर्थ ही नष्ट किये जाते हैं। यह बात पूर्व-काल में न होती थी। महाभारत के युद्ध में १८ * अक्षौहिणी सेना थी। एक अक्षौहिणी में २१,८७० रथारूढ़, इतने ही गजपति, ६५,६१० घुड़सवार और १,०९,३५० पैदल होते हैं। इस प्रकार पाण्डवों की ७ अक्षौहिणी और कौरवों की ११ अक्षौहिणी मिला कर कोई चालीस लाख सेना हुई। यह इतनी बड़ी सेना यदि प्रजा को कष्ट पहुँचाना और देश का नाश करना चाहती तो खूब कर सकती थी। इस युद्ध में भारत के सारे राजे-महाराजे शामिल थे। यदि वे एक दूसरे की सीमा पर अपना अपना अधिकार जमाना चाहते और एक दूसरे के साथ वहीं लड़ाई आरम्भ कर देते तो एक नया ही महाभारत होने लगता। पर ऐसा न होकर लड़ाई के लिए कुरु-क्षेत्र जैसा मैदान चुना गया, जिससे न तो प्रजा को कष्ट पहुँचा और न देश ही नष्ट हुआ।

---

* अक्षौहिण्या, प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः ।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः ॥

यद्यपि धर्म-युद्ध हमारे यहां श्रेष्ठ माना गया है तथापि कभी कभी हमें शत्रु के देश को उजाड़ना और उसकी प्रजा को कष्ट भी पहुँचाना पड़ता था। यह उस दशा में करना पड़ता था जब शत्रु अपने किले के भीतर रह कर लड़ता था। मनु ने एक स्थान पर कहा है—

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्॥
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा॥

अ ७०, श्लोक १९५—१९६

ठीक यही बात शुक्राचार्य्य ने भी कही है। उनके मत में शत्रु की सेना के लिए जल, भोजन आदि पहुँचाना भी रोक देना नीति के विरुद्ध नहीं। शुक्राचार्य तो यहां तक कहते हैं कि जो बली होगा वही उद्योग के द्वारा सब कुछ कर सकेगा। निर्बल केवल अपने दुर्भाग्य के नाम पर रोता रहेगा।

रामायण और महाभारत से यह सिद्ध है कि हमारे यहाँ धार्मिकता और अधार्मिकता का पक्ष केवल प्रस्ताव रूप में ग्रहण किया जाता था। रामायण में रामचन्द्र के द्वारा ताड़का का वध पाप है, क्योंकि वह स्त्री थी। पर विश्वामित्र ने उसके दुष्कार्यों का वर्णन करके यह साबित किया है कि रामचन्द्र को उसे मारने से पाप नहीं लगा। रामायण के उत्तरकाण्ड में भी एक ऐसी ही घटना का वर्णन है। विष्णु और राक्षस माल्यवान के युद्ध में जो राक्षस भागते थे उन्हें भी विष्णु मार डालते थे। यह देख कर

माल्यवान ने कहा,—मालूम होता है, विष्णु क्षात्रयुद्ध के नियमों से परिचित नहीं। विष्णु ने उत्तर दिया कि राक्षसों के नाश की प्रतिज्ञा देवताओं से कर चुकने के कारण मैं इन्हें मार रहा हूँ।

महाभारत में दुर्योधन की चालबाजियों के अतिरिक्त धर्म-युद्ध का अच्छा चित्र खींचा गया है। उसमें यह भी दिखलाया गया है कि मानव-समाज के हार्दिक भाव कैसे होते हैं।

[जनवरी १६१५

१६—प्राचीन भारत में शस्त्र-चिकित्सा

डाक्टर गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, बी० ए०, एम० डी० ने भारतीय आयुर्वेद में वर्णित शस्त्र-चिकित्सा और उसके यन्त्र आदि के विषय में एक पुस्तक लिखी है। पुस्तक अंगरेज़ी में है। कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने उसे प्रकाशित किया है। उसका नाम है—"The Surgical Instruments of the Hindus"—अर्थात् हिन्दुओं के चिकित्सा-शस्त्र।

पुस्तक लिखने में लेखक ने अच्छा परिश्रम और अनुसन्धान किया है। हर्ष की बात है कि अब भारतवासी भी भारत के प्राचीन महत्त्व को ढूँढ़ निकालने में तत्पर हुए हैं। अभी तक तो यह काम विदेशियों ही के हाथ में था। डाक्टर वाइज़, रयेल, हार्नले, जाली, कर्डियार, आसानोसी आदि यूरोप के विद्वानों की तरह डाक्टर उदयचाँद दत्त, गोंडाल के ठाकुर साहब और डाक्टर राय आदि भारतीयों ने भी आयुर्वेद की कितनी ही बातों का बहुत कुछ अनुसन्धान किया है। डाक्टर मुखोपाध्याय ने तो उपर्युक्त पुस्तक लिख कर बड़ा ही उपकार किया है। जो लोग कहते हैं कि आयुर्वेदीय प्रणाली के अनुसार प्राचीन काल में शस्त्र-चिकित्सा का प्रचार न था उनका भ्रम अब

अवश्य दूर हो जायगा। प्राचीन भारत में शस्त्र-चिकित्सा का केवल प्रचार ही रहा हो सो नहीं वह उन्नत दशा में थी।

भारत में आयुर्वेदीय प्रणाली के अनुसार अब शस्त्र-चिकित्सा या जर्राही नहीं होती। उसका विशेष प्रचार सुश्रुत के समय से लगा कर वाग्भट के समय तक था। वाग्भट के समय से ही उसका प्रचार घटने लगा। मुखोपाध्याय जी की पुस्तक में हिन्दुओं के प्राचीन शस्त्रों आदि के चित्र देख कर अब तो लोगों को इस बात का विश्वास ही नहीं होता कि दो ढाई हज़ार वर्ष पहले कभी उनका उपयोग होता था।

शारीरिक विद्या (Anatomy) और शस्त्र-चिकित्सा की उत्पत्ति वास्तव में साम-वेद से हुई है। पर कायिक चिकित्सा का उत्पत्ति-स्थान अथर्ववेद है। अथर्ववेद में "आयुष्याणि" और "भैषज्यानि" आदि कई मन्त्र इस विषय के हैं। वैदिक साहित्य में शारीरिक और अस्त्र-चिकित्सा-सम्बन्धिनी बातों का वर्णन कई जगह है। जान पड़ता है, यज्ञों में मारे गये पशुओं के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के नाम ही से आयुर्वेदीय शारीरिक विद्या का उद्भव हुआ है।

वैदिक काल से लगाकर सुश्रुत के समय तक शस्त्र-चिकित्सा की अच्छी उन्नति हुई। सुश्रुत ने शस्त्र-चिकित्सा का महत्वपूर्ण वर्णन किया है। पर इस चिकित्सा में वैदिक काल से लगा कर सुश्रुत के समय तक जो उन्नति हुई उसका इतिहास मिलना कठिन है। केवल इतना ही जाना जाता है कि स्वर्गवैद्य भगवान्

धन्वन्तरि के अवतार काशिराज दिवोदास शस्त्र-चिकित्सा के सब से पहले प्रवर्तक हैं। उनके बारह शिष्य थे—सुश्रुत, औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गापुर, रक्षित, निमि, काङ्कायन, गार्ग्य और गालव। इनमें से ओपधेनव, औरभ्र और पौष्कलावत के शल्यतन्त्रों (शस्त्रचिकित्सा-शास्त्रों) का उल्लेख सुश्रुत में है। ये सब तन्त्र अब लुप्त हो गये हैं। वे सुश्रुत के सम-कालीन थे या उसके पहिले भी मौजूद थे, इसके जानने का कोई उपाय नहीं। पर इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक काल के बाद और सुश्रुत के समय के पहले शस्त्र-चिकित्सा विषयक बहुत से ग्रन्थ थे।

भारत में शस्त्र-चिकित्सा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ सुश्रुत है। सुश्रुत ही की शस्त्र-चिकित्सा का सार वाग्भट ने अपने ग्रन्थ में लिखा है। वाग्भट ने शस्त्र-चिकित्सा के कुछ नवीन शस्त्रों का भी वर्णन किया है। यही दोनों ग्रन्थ भारतीय शस्त्र-चिकित्सा के आधार हैं। इनका और इन पर रची गई टीकाओं ही का आधार लेकर डाक्टर गिरीन्द्रनाथ ने अपनी पुस्तक लिखी है। अच्छा तो सुश्रुत और वाग्भट का समय कौन सा है। हार्नले साहेब ने सुश्रुत को वैदिक युग का ग्रन्थ ठहराया है। पर हमारी समझ में अथर्व-वेद से पहले का वह नहीं हो सकता। सुश्रुत और चरक के ग्रन्थ वैदिक युग में बनें, यह सम्भव नहीं। अथर्ववेद का समय ईसा से एक हजार वर्ष पहले माना जाता है। अथर्ववेद में मन्त्रों द्वारा रोग-निवृत्ति का उपाय बताया गया है। चरक और सुश्रुत की

जैसी नियमबद्ध चिकित्सा का वर्णन उसमें नहीं। अतएव अथर्व-वेद की रचना के सात आठ सौ वर्ष बाद चरक और सुश्रुत की रचना हुई होगी। इसी बीच में रोग-चिकित्सा-ज्ञान की अच्छी उन्नति भारत में हुई। चरक की भाषा ब्राह्मण-युग के अन्तिम समय की है और सुश्रुत की उससे भी पीछे की। चरक के विषय में लोग कहते हैं कि पतञ्जलि ने उस पर टीका की है। कोई कोई तो कहते हैं कि पतञ्जलि ने उसका पुनः संस्कार ही किया है। पतञ्जलि ईसा के पहले दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे। यदि यह मान लें कि चरक उनसे दो सौ वर्ष पहले विद्यमान थे तो उनका समय ईसा से ४०० वर्ष पहले होता है।

सुनते हैं, बौद्ध विद्वान नागार्जुन ने सुश्रुत का प्रतिसंस्कार किया था। वे सुश्रुत के उत्तर-तन्त्र के रचयिता भी माने जाते हैं। नागार्जुन ईसा से पूर्व पहली या दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे। इससे सुश्रुत का काल भी ईसा के पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी मानना चाहिये। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में लिखी गई, बावर साहेब की आविष्कृत पुस्तक ही (Bower Manu-script) से जाना जाता है कि उस शताब्दी में सुश्रुत की बहुत प्रसिद्धि हो चुकी थी और वह बहुत ही प्राचीन ग्रन्थ माना जाता था।

वाग्भट का समय भी अनिश्चित है। हार्नली साहेब का मत है कि वाग्भट दो थे—अष्टाङ्गसङ्ग्रह बनाने वाला वाग्भट पहला और अष्टाङ्गहृदय वाला दूसरा। इसी मत का अनुसरण

डाक्टर गिरीन्द्रनाथ ने भी किया है। जिस श्लोक के आधार पर दो वाग्भट माने गये हैं उनका अर्थ ठीक नहीं किया गया। वह श्लोक अष्टाङ्गहृदय के अन्त में है। यथा—

> अष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थनेन
>
> योऽष्टाङ्गसङ्ग्रहमहामृतराशिराप्तः।
>
> तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां
>
> प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्।

इसी की व्याख्या करते हुए गिरीन्द्र बाबू लिखते हैं—

In the Uttarsthan, Bagbhat, the younger, distinctly states that his compendium is based on the compilation of Bagbhata, the elder."

अर्थात् द्वितीय वाग्भट साफ़ साफ़ कहता है कि उसने प्रथम वाग्भट के संग्रह के आधार पर अष्टाङ्गहृदय का सङ्कलन किया।

पर श्लोक का अर्थ यह नहीं है। अर्थ यह है कि आयुर्वेद के अष्टाङ्ग-भाग-रूप महासमुद्र को मथ कर अष्टाङ्गसंग्रह-रूप से जो महा अमृत मैंने पाया है उसी में सामग्री लेकर मैंने बहु-फल के दाता इस पृथक् ग्रन्थ की रचना, अल्प परिश्रम करने वालों की प्रीति के लिए, की है। * अतएव दो वाग्भटों की कल्पना निराधार है। दोनों ग्रन्थों का कर्त्ता बौद्ध-धर्मावलम्बी था। बुद्ध,

*बँगला लेख के लेखक नियोगी महाशय ने डाक्टर गिरीन्द्रनाथ के किये हुए अर्थ में जो त्रुटि दिखाई है वह ठीक है। पर अनल्प का अर्थ "अल्प" नहीं, अल्प का उलटा अर्थात् बहुत है।

तथागत, अर्हत आदि को उसने ग्रन्थ के प्रारम्भ ही में नमस्कार किया है। अष्टाङ्गसंग्रह की रचना गद्य और पद्य में है, अष्टाङ्ग-हृदय की केवल पद्य में है। संग्रह वाग्भट का पहला ग्रन्थ है, हृदय दूसरा। गद्य-भाग याद नहीं रहता। इस कारण वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय की रचना केवल पद्य में की और उसमें अनेक मनोहर छन्दों का प्रयोग किया।

अच्छा तो वाग्भट किस समय हुए? वाग्भट के पिता का नाम सिन्धुगुप्त और जन्मस्थान सिन्धु-देश था, पर जन्मकाल का कुछ पता नहीं चलता। हार्नली साहेब कहते हैं कि वाग्भट सातवीं शताब्दि में हुआ। वे बताते हैं कि चीन का इत्सिंग नामक संन्यासी सातवीं शताब्दी में भारत आया था। उसने लिखा है—"पहले आयुर्वेद के आठों भाग अलग अलग थे। अब (सम्प्रति) एक आदमी ने उन्हें एक ही स्थान पर एकत्र कर दिया है।" इसी "अब" से वे अनुमान करते हैं कि वाग्भट का समय वही था। पर इत्सिंग का बतलाया हुआ व्यक्ति और कोई भी हो सकता है; वाग्भट भी हो सकता है। केवल "अब" पर अधिक जोर देना ठीक नहीं। वाग्भट के समय-निरूपण के लिये नीचे लिखे हुए प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) वाग्भट नागार्जुन के पीछे और निदानकार माधव के पहले हुए। माधव ने अपने निदान में अष्टाङ्ग-हृदय से कुछ अंश उद्धृत किया है।

(२) वाग्भट और माधवनिदान का अरबी-अनुवाद आठवीं

शताब्दी में हुआ। यदि ये प्राचीन और प्रमाणिक ग्रन्थ न होते तो अरबी वाले अपनी भाषा में इनका अनुवाद न करते। अतएव अनुमानतः माधव पाँचवीं या छठीं शताब्दी में हुए और वाग्भट उन से सौ वर्ष पहले।

(३) तिब्बत की एक ग्रन्थावली में चरक, सुश्रुत और वाग्भट का अनुवाद तिब्बती भाषा में है। यह ग्रन्थावली आठवीं शताब्दी के मध्यकाल में बनी थी। चरक और सुश्रुत से वाग्भट बहुत पीछे हुए थे। तथापि पूर्वोक्त ग्रन्थावली के रचनाकाल से वे ४-५ सौ वर्ष पहले अवश्य हुए होंगे। ऐसा न होता तो चरक सुश्रुत के साथ उनके ग्रन्थ को उक्त ग्रन्थावली में स्थान न मिलता। इन प्रमाणों से मालूम होता है कि वाग्भट तीसरी या चौथी शताब्दी में विद्यमान थे।

इससे अनुमान किया जा सकता है कि ईसा से तीन चार सौ वर्ष पहले और इतने ही समय पीछे तक भारत में शस्त्र-चिकित्सा का ख़ासा प्रचार था। शस्त्र-चिकित्सा के विषय में वाग्भट के परवर्ती कोई अच्छे ग्रन्थ नहीं मिलते। केवल पिष्टपेषण और टीकाओं की टीकायें ही मिलती हैं।

बहुत लोगों का ख़याल है कि भारत में, प्राचीन समय में, आज कल की तरह अस्पताल और औषधालय न थे। औषधालयों और अस्पतालों का अस्तित्व यहाँ अँगरेज़ों के समय से ही हुआ। कोई कोई उन्हें अरबवालों का आविष्कार बतलाते हैं। पर हमारी समझ में अरब-जाति से हिन्दू-जाति अधिक पुरानी है। हिन्दुओं

में ईसा के पूर्व चौथी-पाँचवी शताब्दी से शस्त्र-चिकित्सा का ज्ञान मौजूद था। अतएव यह न मानना कि प्राचीन आर्यों ने औषधालयों की स्थापना की थी, ठीक नहीं। सुश्रुत में स्पष्ट लिखा है कि वैद्य को 'भेषजागार' में काष्ठनिर्मित ताकों पर औषधियां आदि रखनी चाहिए। चरक-संहिता में शुश्रूषागार, सूतिकागार आदि का बड़ा सुन्दर वर्णन है। इस सम्बन्ध में डाक्टर गिरीन्द्र-नाथ ने अपनी पुस्तक में जो कुछ लिखा है वह बड़े ही महत्व का है। उन्होंने औषधालयों और अस्पतालों के अस्तित्व के जो प्रमाण दिये हैं वे अखण्डनीय हैं। राजा अशोक ने तो मनुष्यों ही के लिए नहीं, किन्तु पशुओं तक के लिए, स्थान स्थान पर, चिकित्सालय स्थापित किये थे। उस समय ये चिकित्सालय "आरोग्यशाला" और "भेषजागार" कहलाते थे। अँगरेज़ी में इन दोनों का अर्थ क्रमशः Hospital और Dispensary के सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

शस्त्र-चिकित्सा करते समय रोगी को मूर्छित करना पड़ता है। मूर्छित करने के लिए सुश्रुत और चरक ने मद्यपान कराना लिखा है। कभी कभी गांजे का धुआँ सुँघा कर भी रोगी मूर्छित किया जाता था। राजा भोज की शस्त्र-चिकित्सा का वृत्तान्त भोजप्रबन्ध में है। वह भी इसी ढँग से मूर्छित करा कर की गई थी। उस सम्मोहनी ओषधि का नाम था मोह-चूर्ण।

डाक्टर गिरीन्द्र नाथ ने अपनी पुस्तक में शस्त्र-चिकित्सा के उपयोगी शस्त्रों का खूब वर्णन किया है। आप ने चरक, सुश्रुत

आदि ग्रंथों के लेखानुसार शस्त्रों के रूपों की कल्पना की है। साथ ही प्राचीन काल के यूनानी चिकित्सा-शस्त्रों का भी कुछ वर्णन किया है। पुस्तक के द्वितीय भाग में शस्त्रादि के कोई ८० चित्र हैं। वे अस्त्र-शस्त्र, यन्त्र-उपयन्त्र और बन्धनों की पट्टियों (Bandago) आदि के हैं।

शस्त्रादि-रूपों की कल्पना में डाक्टर गिरीन्द्र नाथ ने बड़ी सावधानी से काम किया है। उनके यन्त्रों और शलाकों को देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि ये प्राचीन काल के नहीं हैं। आयुर्वेद में बताई प्रणाली का कहीं परित्याग नहीं किया गया।

अब विचार इस बात का करना है कि भारत से शस्त्र-चिकित्सा का लोप कैसे हुआ। वास्तव में इतनी बढ़ी-चढ़ी विद्या का नाम शेष हो जाना बहुत ही आश्चर्यजनक है। पर सच पूछा जाय तो यही कहना होगा कि जिस तरह भारत की प्राचीन कलाओं का लोप हो गया उसी तरह उसकी यह विद्या भी नष्ट हो गई।

शस्त्र-चिकित्सा की अवनति के मुख्य कारण ये हो सकते हैं। स्मृतियों में मुर्दों को चीरने-फाड़ने का निषेध है। बौद्ध धर्म का मूलमन्त्र "अहिंसा परमो धर्मः" है। इसी से जान पड़ता है कि इस विद्या की अवनति आरम्भ हुई और जैसे जैसे स्मार्त और बौद्धधर्म का संचार बढ़ा वैसे ही वैसे शस्त्र-चिकित्सा का ह्रास होता गया। फल यह हुआ कि लोग मुर्दा चीरने-फाड़ने में घृणा करने लगे। मुसलमानों के शासन-समय में हिन्दुओं के

शास्त्रों का जब अनादर शुरू हुआ तब यह विद्या बिलकुल ही विस्मृत हो गई।

इन के सिवा दो कारण और भी हैं। एक तो औषधियों के द्वारा चिकित्सा-ज्ञान की उन्नति, दूसरे भारत में मूर्छा लाने योग्य किसी उत्तम औषधि का न होना।

जो कुछ हो, आज से कोई एक हज़ार वर्ष पहले भारत का चिकित्सा-शास्त्र खूब उन्नति पर था। इसमें सन्देह नहीं। हज़ारों युद्ध होते थे, लाखों लोग घायल होते और मरते थे। क्या उस समय अंगच्छेदन (*Amputation*) और मरहम-पट्टी आदि का प्रबन्ध न था? ऐसा तो संभव नहीं जान पड़ता। जो ये बातें न होतीं तो सैनिकों की बुरी दशा होती। यह सब अवश्य था। नाई तक देहात में जर्राही करते थे। यह अभी कुछ ही दिन पहले की बात है।

हम अपने देश के डाक्टरों को सलाह देते हैं कि डाक्टर गिरीन्द्रनाथ की शल्य-चिकित्सा-विषयक अँगरेज़ी पुस्तक को अवश्य पढ़ें *।

[मई १९१५

* बँगला की मासिक पुस्तक "भारतवर्ष" में प्रकाशित श्री पंचानन नियोगी, एम० ए०, के एक लेख से संकलित।

१७—प्राचीन भारत में जहाज़

वेदों में इस बात के यथेष्ट प्रमाण हैं कि वैदिक युग में भारत-वासी आर्य्य व्यापार-वाणिज्य आदि के लिए समुद्र-यात्रा करते थे। भारतवासियों ने जहाज़ बनाने का काम विदेशियों से नहीं सीखा। जिस समय अन्य देशों में रहनेवाले लोग असभ्य और बर्बर थे उस समय भारतवासी सभ्यता के ऊँचे शिखर पर पहुँच गये थे। उन्होंने, उसी समय, संसार की सारी जातियों के सम्मुख अपना श्रेष्ठत्व सिद्ध कर दिया था। तरह तरह की व्यापारोपयोगी चीज़ें वे नौकाओं और जहाजों द्वारा, अपने देश के भिन्न भिन्न स्थानों को पहुँचाते थे। साथ ही द्रव्योपार्जन के निमित्त वे समुद्र-यात्रा करके विदेशों में भी पहुंचते थे। वैदिक साहित्य में जहाजों के आने जाने के मार्ग का, अनेक प्रकार के समुद्रगामी जहाजों का समुद्र में पैदा होनेवाली वस्तुओं का, तथा समुद्र—यात्रा और जहाजों के तबाह होने आदि का वर्णन है। इस से स्पष्ट है कि बहुत समय पहले वैदिक युग में भी हिन्दुओं को विदेश की व्यापारोपयोगिनी सब वस्तुओं का पूरा पूरा ज्ञान था। वेदों के अनेक सूक्तों में इस बात के अनेक प्रमाण मौजूद हैं। उदाहरण के लिए नीचे हम एक सूक्त उद्धृत करते हैं—

अरित्रं वां दिवस्पृथुतीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः।

(ऋग्वेद, तृतीय अध्याय, सूक्त ४६, ऋक् ८)

अर्थात्—तुम लोगों का आकाश से भी अधिक विस्तीर्ण यान, समुद्र के किनारे, मौजूद है; भूमि पर रथ मौजूद हैं; साथ ही सोमरस तुम्हारे यज्ञ-कार्य के लिये विद्यमान है। यहाँ पर "अरित्र" शब्द का अर्थ है—"नाव का डांड़"।

ऋग्वेद् (१-११६-५) और वाजसनेयी संहिता में एक सौ पतवारों वाले जलयान (नौका) का वर्णन है। (नौ) अर्थात् नौका का उल्लेख अरित्र-परण नाम से किया गया है। ऋग्वेद के दो सूक्तों (१-४६-८ और २-१८-१) में "अरित्र" का प्रयोग दूसरे अर्थ में भी किया गया है।

"नौ" शब्द ऋग्वेद् में और अन्यत्र भी नौका या जहाज़ के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। बहुत जगहों में "नौ" या "नौका" का प्रयोग नदी पार करने ही के लिए किया गया है। यद्यपि गंगा-यमुना के सदृश बड़ी बड़ी नदियां पार करने के लिए बड़ी बड़ी नावों की ज़रूरत पड़ती थी, तथापि जहाज़ों का विशेष प्रयोग न होता था। "नौ" शब्द से लकड़ी की बनी हुई सब प्रकार की नौकायें समझी जाती थीं। विलसन साहेब कहते हैं कि वैदिक युग में समुद्रगामी जहाज़ों का विशेष उल्लेख नहीं पाया जाता। यहाँ तक कि जहाज़ के मस्तूल और पाल आदि उपकरणों का भी कोई वर्णन नहीं। उस समय जहाज़ों और नावों का एक मात्र आधार पतवार ही था। किन्तु उनकी यह बात हम किसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते। वैदिक युग में सामुद्रिक व्यवसाय होता था।

उस समय जहाज़ों के पाल और मस्तूल आदि का भी अभाव न था। उदाहरण के लिए अथर्व-वेद का ५।१९।८ मन्त्र देखिए। इस मन्त्र में पीड़ित ब्राह्मणोंवाले राज्य के नाश की तुलना एक छिद्रयुक्त डूबते हुए जहाज़ से की गई है। ऋग्वेद १।५६।२ और ४५५।६ में भी धन-प्राप्ति के लिए समुद्र-यात्रा करनेवाले मनुष्यों का उल्लेख है। ऋग्वेद में यह भी लिखा है—

"मरता हुआ कोई मनुष्य जिस प्रकार धन का त्याग करता है उसी प्रकार तुग्र-भुज्यु को समुद्र में भेजा था। अश्विद्वय, तुम लोग अपने नौका-समूह पर चढ़ा कर उसे सकुशल लौटा लाये। वह नौका पानी के भीतर चली जाती है, पर उसके भीतर पानी नहीं जा सकता"।

उस समय सौ सौ पतवारों वाले बड़े बड़े जहाज़ समुद्र में आते जाते थे--यह बात इस सूक्त से अवश्य ही सिद्ध होती है। वेदों के बहुत से सूक्तों में ऐसी ऐसी बातें पाई जाती हैं। बौधायन-धर्म्मसूत्र यद्यपि बहुत प्राचीन ग्रन्थ नहीं तथापि उसमें बहुत पुरानी बातों का वर्णन अवश्य है। उसमें भी हम समुद्र-यात्रा के अनेक उदाहरण पाते हैं। ऋग्वेद में जहाज़ों और बड़ी बड़ी नावों से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेद के जिन मन्त्रों का उल्लेख हमने ऊपर किया है उनसे यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि वैदिक युग में भारतवर्ष की सौभाग्य-लक्ष्मी उस पर बहुत प्रसन्न थी। भारतवर्ष ने उस समय समुद्र में जानेवाले जहाज़ों की सहायता से व्यापार में बहुत उन्नति

की थी। वैदिक युग के बाद के युग में—मनु-संहिता में भी—हम देखते हैं कि उस समय भी भारतवासी देश-देशान्तरों को जाकर वहां व्यवसाय-वाणिज्य करते थे। मनु के चार श्लोकों से तो समुद्रयात्रा का भली भांति प्रतिपादन होता है। इस सम्बन्ध में मनुस्मृति के कुछ श्लोक नीचे दिये जाते हैं—

सारासारञ्च भाण्डानां देशानाञ्च गुणागुणान्।
लाभालाभञ्च पण्यानां पशूनां परिवर्द्धनम्॥
भृत्यानाञ्च भृतिं विद्यात् भाषाश्च विविधा नृणाम्।
द्रव्याणां स्थानयोगाँश्च क्रयविक्रयमेव च:॥

नवम अध्याय—३३१, ३३२

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः
स्थापयन्ति तु यां वृत्तिं सा तत्राधिगमं प्रति॥

(अष्टम अध्याय—१५७)

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्।
नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम्॥

(अष्टम अध्याय—४०६)

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तञ्च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमञ्च सम्प्रेक्ष्य वणिजो दापयेत् करान्॥

(सप्तम अध्याय—१२०)

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥

(सप्तम अध्याय—१३०)

आददीताथ षड्भागं द्रु-मांस-मधु-सर्पिषाम्
गन्धौषधिरसानाञ्च पुष्पमूलफलस्य च ॥
पत्र शाकतृणानाञ्च वैदलस्य च चर्म्मणाम् ।
मृण्मयानाञ्च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥

(सप्तम अध्याय--१३१, १३२)

कारुकान् शिल्पिनश्चैव शूद्राश्चात्मोपजीविनः ।
एकैकं कारयेत् कर्म्म मासि मासि महीपतिः ॥

(सप्तम् अध्याय---१३८)

रामायण से हमें पता लगता है कि दक्षिण के अधिकांश प्रदेश उस समय बड़े बड़े जङ्गलों से परिपूर्ण थे। रामायण में दक्षिण-देश की नदियों और पर्वतों आदि का बहुत वर्णन है। उससे मालूम होता है कि रामायण की जिस समय रचना हुई थी उस समय हिन्दुओं का आवागमन दक्षिण में खूब था। साथ ही उस समय समुद्र के तटवर्त्ती प्रदेशों के साथ उनका वाणिज्य-व्यापार भी था। किष्किन्धा-काण्ड के चालीसवें सर्ग में यवद्वीप (जावा) का वर्णन है—

यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम् ।
सुवर्णरूप्यकं द्वीपं सुवर्णाकारमण्डितम् ॥

रामायण के कुछ श्लोकों में समुद्र-यात्रा का विशेष वर्णन है। देखिए—

उदीच्याश्च प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च केरलाः
कोट्याः, परान्ताः सामुद्रा रत्नान्युपहरन्तु ते ॥
(अयोध्याकाण्ड, सर्ग ८२, श्लोक ५४)

समुद्रमवगाढाँश्च पर्वतान् पत्तनानि च ।
(किष्किन्धा-काण्ड, सर्ग ४०, श्लोक २५)

भूमिश्च कोषकाराणां भूमिश्च रजताकराम् ।
(किष्किन्धा-काण्ड, सर्ग ४०, श्लोक २३)

ततः समुद्रद्वीपांश्च सुभीमान् द्रष्टुमर्हत ।
पतान् म्लेच्छान् पुलिन्दांश्च × × × ॥
काम्बोजयवनांश्चैव शकानां पत्तनानि च ।
अन्विष्य वरदाँश्चैव हिमवन्तं विचिन्वय ॥
(किष्किन्धा-काण्ड, सर्ग ४३)

इन श्लोकों से स्पष्ट मालूम होता है कि रामायण-युग में शक आदि विदेशी जातियां व्यापार-वाणिज्य से बहुत प्रेम रखती थीं । उनका यह कार्य्य विशेष करके भारतवासियों ही के साथ होता था । वाल्मीकीय रामायण से यवद्वीप, सुमात्रा-द्वीप और चीन में हिन्दुओं के आने-जाने आदि का भी पता लगता है ।

महाभारत के निम्नोद्धृत श्लोक से मालूम होता है कि पाण्डवों के सब से छोटे भाई सहदेव ने समुद्र के मध्यवर्त्ती कितने ही द्वीपों में जाकर वहां के अधिवासी म्लेच्छों को हराया था—

सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन् म्लेच्छयोनिजान् ।
द्वीपं ताम्राह्वयञ्चैव वशे कृत्वा महामतिः ॥

मिताक्षरा से यह सिद्ध होता है कि हिन्दू लोग व्यापार के लिए जहाज़ों द्वारा दूर दूर तक समुद्र-यात्रा करते थे। समुद्री जहाज़ों का वर्णन हमें वायुपुराण, हरिवंश, मार्कण्डेयपुराण, भागवतपुराण, हितोपदेश, शकुन्तला, रत्नावली, दशकुमारचरित, कथा-सरित्सागर आदि अनेक संस्कृत-ग्रन्थों में मिलता है। कथा-सरित्सागर में तो अनेक जगह जहाज़ों का वर्णन है। यह ग्रन्थ ईसा की पाँचवीं शताब्दी का है। इस ग्रन्थ के बनने के समय आर्य्य लोग समुद्र-गामी जहाज़ों को बनाना अच्छी तरह जानते थे। यह बात इस ग्रन्थ के पचीसवें तरङ्ग में स्पष्ट लिखी हुई है। इसी ग्रन्थ के पचासवें तरङ्ग में लिखा है कि चिन्तकर नामक एक मनुष्य दो श्रमणों (बौद्ध-संन्यासियों) के साथ विस्तृत समुद्र-पार करके प्रतिष्ठान-नगर में पहुँचा। वहाँ शत्रुओं को जीत कर आठ दिन बाद वह मुक्तिपुर-द्वीप में उपस्थित हुआ। पाश्चात्य देश के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्ट्राबो ने लिखा है कि भारतवासी गङ्गा-नदी के मुहाने से समुद्र पार करते थे। वे जहाज़-द्वारा पालि-बोथ्रू तक जाते थे।

म्यकफ़र्सन के "एनल्स आव् कामर्स" (Macpherson's Annals of Commerce) नामक ग्रन्थ में लिखा है कि भारत-वासी अपना वाणिज्यव्यापार बहुत दूर दूर तक करते थे। यहाँ तक कि मिश्र देश के साथ भी जहाज़ों द्वारा उनका व्यापार होता

था। प्लीनी नाम का इतिहास लेखक कहता है कि छठी शताब्दी में भारत के व्यापारी समुद्र पार करके फ़ारिस के बन्दरों में पहुँचते थे। "रायल एशियाटिक सोसायटी" के जर्नल का पांचवां भाग पढ़ने से पता लगता है कि फ़ा-हियान नामक प्रसिद्ध चीनी यात्री भारतीय कर्मचारियों द्वारा परिचालित जहाज़ पर बैठकर अपने देश को रवाना हुआ था। उस जहाज़ पर कितने ही ब्राह्मण भी सवार थे।

हम वराहपुराण से समुद्र-यात्रा सम्बन्धी कुछ श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं—

पुनस्तत्रैव गमने वणिग्भावे मतिर्गता ॥
समुद्रयाने रत्नानि महास्थौल्यानि साधुभिः
रत्नपरीक्षकैः सार्द्धमानयिष्ये बहूनि च ॥
एवं निश्चित्य मनसा महासार्थपुरःसरः।
समुद्रयायिभिर्लोकैः संविदं सूच्य निर्गतः ॥
शुकेन सह संप्राप्तो महान्तं लवणार्णवम्।
पोतारूढ़ास्ततः सर्वे पोत वाहैरुपोषिताः

राजतरङ्गिणी में यह श्लोक मिलता है—

सान्धिविग्रहिकः सोऽथ गच्छन् पोतच्युतोऽम्बुधौ।
प्राप पारं तिमिग्रासात्तिमिमुत्पाट्यनिर्गतः ॥

इन सब श्लोकों से यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि बहुत पुराने समय से भारतवासी नाव, जहाज़ और जलयान का व्यवहार करते आते थे।

अब तक हमने केवल अपने ही पुराणों और शास्त्रों आदि से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। इन श्लोकों से यह सिद्ध होता है कि भारतवासी बहुत पहले ज़माने से ही जलयानों का व्यवहार करना जानते थे। किन्तु हमें अब यहाँ कुछ प्रमाण दूसरी सभ्य जातियों के ग्रन्थों से भी देने चाहिए। इन ग्रन्थों और दक्षिण-समुद्रवर्त्ती अनेक उपद्वीपों के पुरावृत्तों में इस विषय के अनेक प्रमाण मिलते हैं—

Periplus of the Erythian Sea (पेरिप्लस आव् दि एरीथियन सी) नामक ग्रन्थ में लिखा है कि अरब, ग्रीक और हिन्दू-व्यापारी सकोट्रा नामक उपद्वीप में व्यापार के लिए जाते और वहाँ ठहरते थे। क्राफर्ड नाम के लेखक ने बहुत प्रमाणों-द्वारा सिद्ध किया है कि यवद्वीप (जावा) के प्राचीन निवासी हिन्दू थे। उन लोगों ने १८०० वर्ष पहले बौद्ध-धर्म स्वीकार किया था। यवद्वीप में जिस समय बौद्धों का प्रादुर्भाव हुआ उस समय वहाँ के हिन्दू वहाँ छोड़ कर निकटवर्त्ती बाली नामक एक छोटे द्वीप में जा बसे। वे आज तक अपने प्राचीन धर्म्म का पालन करते हुए वहीं रहते हैं।

यवद्वीप के रहनेवाले हिन्दुओं ने १८०० वर्ष पहले बौद्ध-धर्म्म स्वीकार किया था। अतएव वे इसके पहले ही वहाँ पहुँचे थे, यह बात अवश्य माननी पड़ेगी। लगभग दो हज़ार वर्ष पहले भारत से जहाज़ों द्वारा हिन्दू लोग यवद्वीप पहुँचे और वहीं वे बस गये। इस विषय के भी यथेष्ट प्रमाण मौजूद हैं।

इस प्रकार अनेक प्रमाणों द्वारा यह दिखाया जा सकता है कि हिन्दू लोग समुद्र-यात्रा में बड़े प्रवीण थे। रोम के टोसिटस नामक इतिहासवेत्ता ने हिन्दुओं का समुद्र-यात्रा और उनके व्यापार-वाणिज्य के विषय में जो कुछ लिखा है उसका अँग्रेजी-अनुवाद हम नीचे देते हैं—

Pliny, the elder, relates the fact, after Cornelius Nepos, who, in his account of a voyage to the North, says, that in the Consulship of Quintus Metellus Celer, and Lucius Afranius [A. U. C. 694, before Christ 60] certain Indians, who had embarked on the commercial voyage, were cast on the coast of Germany, and given as a present by the king of the Sulvians to Metellus, who was at that time Governor of the Gaul. The work of Cornelius Nepos has not come down to us, and Pliny, as it seems, has abridged too much. The whole tract would have furnished a considerable event in the history of Navigation. At present we are left to conjecture whether the Indian adventurers sailed round the Cape of Good Hope, through the Atlantic Ocean, and thence into the Northern Seas, or whether they made a voyage still more extraordinary passing the Island of Japan, the coast of Siberia, Kamschtska, Zembla in the Frozen Ocean, and hence round Lapland and Norway, either into

the Baltic or the German Ocean—Tacitus, translated by Murphy, Philadelphia, 1836, P, 606 Note 2.

मद्रास और बम्बई प्रदेश के व्यापारी और नाविक अब भी बिना किसी सङ्कोच के समुद्र-यात्रा करते हैं। यह बात सभी जानते हैं। इन दोनों प्रदेशों के व्यापारी अपने व्यापार-वाणिज्य में कितने प्रवीण हैं; इसका प्रमाण उनका उन्नत व्यापार ही है।

इस सम्बन्ध में प्राचीन काल की नौकाओं और जहाजों के चित्र भी देने का विचार था। पर दुःख का विषय है कि प्राचीन काल के जलयनों का चित्र मिलने का कोई साधन नहीं। केवल कहीं कहीं भित्तियों और मन्दिरों में अङ्कित कुछ चित्र मिले हैं। बुरोबुदेर (जावा) की चित्रावली में सात प्राचीन जहाजों के चित्र हैं। सांची के स्तूपों पर दो, जगन्नाथपुरी में एक, भुवनेश्वर में एक और अजन्टा की गुफाओं में पचास चित्र पाये जाते हैं—

"भारतवर्ष" से सङ्कलित] [मई १९१६

१८—प्राचीन भारत में राज्याभिषेक

प्रस्तावना

प्राचीन भारत में किस तरह राज्याभिषेक होता था, इसका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जाता है।

चुनाव

प्राचीन नरेश जब राज करते करते वृद्ध हो जाते थे और अपने पुत्र को राजकार्य अच्छी तरह चला सकने योग्य देखते थे तब उसे युवराज बना देते थे और उस पर राज्य का भार देकर स्वयं एकान्त सेवन करते हुए प्रभु-भजन में अपना समय व्यतीत किया करते थे। युवराज केवल उन्हीं की इच्छा से नहीं चुना जाता था। उसके लिए ब्राह्मणों से, अधीन मण्डलेश्वरों से, तथा प्रजा से भी सम्मति ली जाती थी। इस विषय में लोकमत का बड़ा आदर किया जाता था। यदि पुत्र राजा बनने योग्य न होता था तो उसका परित्याग कर दिया जाता था, चाहे फिर वह औरस ही क्यों न हो।

औरसानपि पुत्रान्हि त्यजन्त्यहितकारिणः।
समर्थान् सम्प्रगृह्णन्ति जनानपि नराधिपाः॥

(वाल्मीकि)

जब दशरथ जराजीर्ण हो गये और उन्होंने राम को युवराज करना चाहा तब उन्हें भी लोकमत का आश्रय लेना पड़ा था। उन्होंने अनेक नरपालों को बुलवाया; उनका यथेष्ट सत्कार किया; उनके पास बहुमूल्य वस्तुयें और अलङ्कार आदि भेजे। उनका यथायोग्य सम्मान करके उनसे वे मिले—

नानानगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि ।
समानिनाय मेदिन्यः प्रधानान्पृथिवीपतीन् ॥
तान् वेश्मनानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान् ।
ददर्शालंकृतो राजा..................... ॥

(वाल्मीकि)

इसके बाद दरबार किया गया। भांति भांति के आसनों पर सब राजे और रईस इस तरतीब से बिठाये गये कि सब के मुख दशरथ की ओर रहें। वहां पर वही महीपाल थे जो लोक-सम्मत थे, और जो वहां आने योग्य थे--

ततः प्रविविशुः सर्वे राजानो लोकसम्मताः ।
....
अथ राजवितीर्णेषु विविधेस्वासनेषु च ।
राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः ॥

(वाल्मीकि)

दरबार में नगर के मुख्य निवासी और प्रजाजन भी थे। सब के सामने दशरथ ने प्रस्ताव किया कि अब मैं वृद्ध हुआ हूँ। राम सुयोग्य हैं। मैं उसे युवराज किया चाहता हूँ। यदि मेरी यह

सम्मति ठीक है तो आप सब अनुमति दीजिए और जो ठीक न हो तो कहिए मैं क्या करूं ? यह काम मैं पुत्र-प्रीति के वशीभूत होकर कर रहा हूँ, पर यदि यह ठीक न हो तो और कोई राज्य के हित की बात सोचिए—

यत्रेदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमंत्रितम् ।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथां वा करवाण्यहम् ॥
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम् । (वाल्मीकि)

उपस्थित दरबारियों ने राजा के भाव को समझ लिया। उन्होंने आपस में सलाह की। यह कहा गया कि दशरथ अब वृद्ध हो गये हैं। इन्हें शान्ति मिलनी चाहिए। राम वास्तव में योग्य हैं। अच्छी तरह विधिपूर्वक उसने विद्या पढ़ी है। सांग वेद जानता है। सज्जन है। मधुरभाषी है। प्रजा के सुख से सुखी होनेवाला है। सत्यवादी है। जितेन्द्रिय है। पराक्रमी है। बुद्धिमान् है। प्रसन्न-मुख है। गाँव या नगर के लिए लड़ाई करने जाता है तो जीत कर ही लौटता है। लौट कर आते समय नगरवासियों से आत्मीय जनों की तरह कुशल-समाचार पूछता है। मुसकरा कर बात करता है। व्यर्थ किसी पर कृपा नहीं करता, और न व्यर्थ किसी पर क्रुद्ध ही होता है। नीतिज्ञ है। धीर है। गम्भीर है। प्रजापालन के तत्वों को खूब जानता है। मोह में फँसने वाला नहीं है। तीनों लोकों को भोगने में समर्थ है। प्रजा के हित के सभी गुण इसमें मौजूद हैं। बड़ों की सेवा करता है। सब को कल्याण का मार्ग बतलाता है। इत्यादि—

सम्यग्विद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ।
सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ॥
प्रजापालनतत्वज्ञो न रागोपहतेन्द्रियः ।
शक्तः त्रैलोक्यमप्येको भोक्तुं.... .....॥
पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति ।
शान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम् ।
गुणैर्विरुरुचे रामः.....................।

(वाल्मीकि)

अन्त को सब एकमत हुए । उन्होंने दशरथ को सम्मति दी कि महाराज आप वृद्ध हैं राम का अभिषेक कर दीजिए । हम चाहते हैं कि महापराक्रमी राम की महागज पर सवारी निकाली जाय और उस पर छत्र लगाया जाय, इत्यादि—

ब्राह्मणा जनमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ।
समेत्य मन्त्रयित्वा तु समतां गतबुद्धयः ॥
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ।
अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव ॥
स रामं युवराजनमभिषिञ्चस्व पार्थिवम् ।
इच्छामो हि महाबाहु रघुवीरं महाबलम् ।
गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम् ॥

(वाल्मीकि)

प्राचीन भारत में प्रायः इसी तरह चुनाव हुआ करते थे । और, इस प्रकार का चुनाव होने से सब प्रसन्न रहते थे । कभी

किसी को किसी प्रकार की शिकायत का मौक़ा न मिलता था। राजसूय-यज्ञादि में जितने मनुष्य निमन्त्रित होते थे उनका सारा ख़र्च सम्राट् की ओर से ही दिया जाता था। उनके रहने, खाने-पीने, मनोरञ्जन आदि का सारा प्रबन्ध भी सम्राट् के नियत किए हुए सम्बन्धी ही करते थे। बड़ी धूमधाम से उत्सव किया जाता था। सब कोई राजा के मिहमान होते थे।

अभिषेकक्रिया

इस प्रकार चुनाव हो चुकने पर, स्थिर नक्षत्र में, योग्य मुहूर्त आने पर, उस भाग्यशाली व्यक्ति को तिल, सरसों के अभिमंत्रित तेल से मालिश कर स्नान कराते थे। एक दिन पहले उसे सस्त्रीक उपवास करना पड़ता था। स्नान करके वह सब प्राणियों को अभयदान देता था। इन्द्र के निमित्त शान्ति की जाती थी। इसके बाद फिर सुगन्धित तेल से मर्दन करके वह स्नानागार में लाया जाता था। वहां पर्वत के ऊपर की मिट्टी से उसके सिर को, बांमी की मिट्टी से कानों को, देवस्थान की मिट्टी से मुख को, हाथी के दांतों से खुदी हुई मिट्टी से भुजाओं को, इन्द्र-धनुष के नीचे की मिट्टी से ग्रीवा को, राजाङ्गण की मिट्टी से हृदय को, गंगा-यमुना के संगम की मिट्टी से उदर को, तालाब की मिट्टी से पीठ को, नदी-तीर की मिट्टी से पसलियों को, गोशाला की मिट्टी से जंघाओं को, गज-शाला की मिट्टी से जानु को, अश्वशाल की मिट्टी से चरणतलों को, मलते थे। तदनन्तर सारी मिट्टियों को मिलाकर समस्त शरीर को मलते थे। इसके बाद उसे सिंहासन

पर बिठा कर घी, दूध, दही, शर्करा और मधुमिश्रित पंचामृत से उसका अभिषेक किया जाता था। तदन्तर सर्वौषधि मिले हुए जल से स्नान कराया जाता था। जिन घड़ों से स्नान कराया जाता था वे सोने के होते थे और उनमें सहस्र धारायें होती थीं। पुरोहित अग्न्याधान करके अभिषेक करते थे। तीर्थों और समुद्रों से अभिषेक के लिए जल लाया जाता था। जलाशयों का पानी भी उसमें रहता था। अभिषेक के समय मन्त्र पढ़े जाते थे। उनका आशय—

प्रजापति ने जिस पवित्र जल से सोम, वरुण, इन्द्र, मनु को राजा बनाया--अभिषेक किया--था उसी राष्ट्र को बढ़ाने वाली और राष्ट्र को अमर रखने वाली जलधारा से, तुझे राष्ट्रोचित बल के लिए, सम्पत्ति के लिए, यश के लिए और धान्यादि की समृद्धि के लिए मैं अभिषिक्त करता हूँ। तू महाराजाधिराज हो। इत्यादि—

इमा आपः शिवतमाः
इमा राष्ट्रस्य भेषजीः
इमा राष्ट्रस्य वर्द्धिनीः
इमा राष्ट्रभृतोऽमृतः
याभिरिन्द्रमभ्यषिञ्चत् प्रजापतिः
सोमराजानं वरुणां यमं मनु
ताभिरद्भिरभिषिञ्चामि त्वामहं
राज्ञां त्वमधिराजो भवेऽहं
बलाय, श्रियै यशसेऽन्नाद्याय।

महान्तं त्वा महीनां
सम्राजं चर्षणीनां
देवी जनित्र्यजीजनत्
भद्रा जनित्र्यजीजनत्

इसके बाद वस्त्र-धारण की जाती थी। तिलक किया जाता था। भाई-बान्धवों में से योग्य पुरुष छत्र चामर आदि लगाते थे। छत्रपात्र, तैलपात्र आदि का दान होता था। ब्रह्मभोज होते थे। भांति भांति के दान दिये जाते थे। सब लोग नमस्कार करते थे:—

राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने
नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे
स मे कामान् कामकामाय मह्यं
कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु
वैश्रवणाय कुबेराय महाराजाधिराजाय नमः।

(राज्याभिषेकपद्धतिः)

इसके अनन्तर बड़े ठाठ से हाथी पर सवारी निकलती थी। शहर अच्छी तरह सजाया जाता था। जगह जगह अगर जला कर सुगन्धि की जाती थी। ध्वजा-पताकायें और बन्दनवारें लटकाई जाती थीं। झरोखों से स्त्रियां भी सम्राट् पर पुष्पों की वर्षा करती थीं—

हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूषिताभिः समन्ततः।
कीर्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिन्दमः॥ (वाल्मीकि)

भारत में अनेक सम्राट् हुए हैं—कोई दुष्टों का नाश करके अपनी भुजा के बल से; कोई प्रजापालन करने की सुन्दर विधि से; और कोई तपोबल से:—

जित्वा जय्यान् यौवनाश्चिः पालनाच्च भगीरथः।
......................सम्राजस्त्वनुशुश्रुमाः॥

(महाभारत)

भारत ने सदैव ही वीरों और योग्य व्यक्तियों को हृदय से अपना राजा माना है और उनका यथेच्छ सम्मान भी किया है। यदि कोई राजमद से उन्मत्त होकर अपने कर्तव्य से विमुख हो गया तो वह मारा गया। बहुत दिन तक वह अपने आसन पर नहीं जम सका। भारत सदैव न्याय का पक्षपाती रहा है।

[दिसम्बर १९११

११—तक्षशिला की कुछ प्राचीन इमारतें

भारतवर्ष के शतशः नहीं, सहस्रशः कीर्तिस्तम्भ काल की कुक्षि में चले गये हैं। उनका अब कहीं पता नहीं। पुराने खँडहर खोदने से यदि कहीं उनका कोई भग्नांश निकल आता है तो पुराण-वस्तु-विज्ञानी उससे ग्रीस, फ़ारिस, आसिरिया और बैबीलोनिया की बू निकालने लगते हैं। ऐसी कारीगरी उस समय ग्रीस ही में होती थी, अतएव भारतवासियों ने इसे उसी देश के कारीगरों से सीखा होगा। अथवा ऐसे मन्दिर या महल उस युग में फ़ारिस या काबुल ही में बनते थे; इस कारण, हो न हो, यह वहां की नक़ल है। वे लोग इसी तरह के तर्कों की उद्भावनायें करने लगते हैं। पहले इस प्रकार के तर्कों का ज़ोर कुछ अधिक था, पर अब कुछ कम हो गया है। अब भारतवर्ष की पुरानी सभ्यता और पुराने कला-कौशल के चिह्न अधिक मिलते जा रहे हैं। इस कारण पुरानी तर्कना की कुछ इमारतें गिरने नहीं तो हिलने ज़रूर लगी हैं; क्योंकि इन चिह्नों से भारतवर्ष की सभ्यता के बहुत पुराने होने के प्रमाण पाये जाते हैं। कुछ नये पुराविदों ने तो इस देश की सभ्यता को लाखों वर्ष की पुरानी सिद्ध करने के लिए पुस्तकें तक लिख डाली हैं।

यहां के अनेक महल, मन्दिर, स्तूप और गढ़ आदि तो काल

खा गया। पर इस विनाश के विषय में विशेष शोक करने की ज़रूरत नहीं। क्योंकि जीर्ण होने पर सभी वस्तुओं का नाश अवश्यम्भावी है। परंतु जो इमारतें धर्मान्धों और बर्बर विदेशियों ने धर्मान्धता अथवा उत्पीडन की प्रेरणा से ही नष्ट कर दीं उनके असमय-नाश का विचार करके अवश्य ही शोक होता है। प्राचीन काल में तक्षशिला नामक नगरी बड़ी उन्नत अवस्था में थी। वह लक्ष्मी की लीला-भूमि थी। वह विद्वानों का विहार-स्थल थी। बड़े बड़े प्रतापी नरेशों का प्रभुता-निकेतन थी। उसका आयतन बहुत विस्तृत था। कई नये नये नगर वहाँ बस गये थे। कई पुराने नगर उजड़ गये थे। चिन्हों से जान पड़ता है कि ईसा के पांचवें शतक तक तक्षशिला-नगरी विद्यमान थी। तब तक भी वहाँ अनेक अभ्रंकष प्रासाद, स्तूप, विहार आदि उस के वैभव की घोषणा उच्च स्वर से कर रहे थे। अकस्मात् उस पर हूणों ने चढ़ाई कर दी। वहां के तत्कालीन अधीश्वर की हार हुई। विजयी हूणों ने उसे खूब लूटा। पर इतने से भी उनकी तृप्ति न हुई। उन्होंने उसे जला कर खाक ही कर दिया। जो अंश खाक हो जाने से बचा वह उजड़ गया। उस पर जङ्गल उग आया। धीरे धीरे भग्नांश पृथ्वी के पेट के भीतर दब गये।

आरकियोलाजीकल महकमे ने अब तक्षशिला के खंडहर खोद कर उन टूटी-फूटी इमारतों को बाहर निकालना शुरू किया है। यह काम कई सालों से जारी है। और अब तक जो भग्नांश खोद निकाले गये हैं और उनसे जो चीजें प्राप्त हुई हैं उनका

वर्णन इस महकमे की सचित्र सालाना रिपोर्टों में हो चुका है। उनका दिग्दर्शन सरस्वती में प्रकाशित कई नोटों में भी किया जा चुका है। अब इस महकमे के अध्यक्ष, सर जान मार्शल, ने प्रत्येक भग्नांश का विवरण पृथक् पृथक् पुस्तक में प्रकाशित करने का क्रम जारी किया है। इससे यह सुभीता होगा कि प्रत्येक स्थान-विशेष का वर्णन एक ही जगह मिल जायगा। तक्षशिला की खुदाई से अब तक जो ऐतिहासिक पदार्थ-मूर्तियां, स्तूप, औज़ार, व्यावहारिक वस्तुयें, सिक्के आदि—निकले हैं उन पर, साधारण तौर पर, एक अलग पुस्तक भी प्रकाशित की गई है; उसका नाम है—A Guide to Taxila, उसमें तक्षशिला में खोद-निकाली गई इमारतों का भी वर्णन है।

प्राचीन तक्षशिला के खँडहरों की सीमा के भीतर एक जगह जौलियां (Jaulian) नाम की है। उसे खोदने से जो इमारतें और जो पदार्थ निकले हैं उनका विवरण एक अलग पुस्तक में, अभी हाल ही में, प्रकाशित हुआ है। वह अँगरेजी में है और सचित्र है। नाम है—

Excavations at Taxila—The Stupas and Monasteries at Jaulian.

इसका भी प्रकाशन सर जान मार्शल ने ही किया है। इसका अधिकांश उन्हीं का लिखा हुआ भी है। अल्पांश के लेखक और कई महाशय हैं। पुस्तक में छोटे बड़े अनेक चित्र हैं।

जौलियाँ में, जहाँ खुदाई हुई है वहाँ, कोई डेढ़ हज़ार वर्ष

पूर्व बौद्धों के कितने ही स्तूप, विहार और चैत्य आदि थे। वे सब, एक ऊँची जगह, पहाड़ों पर थे। खोदने पर इन इमारतों में आग लग कर गिर जाने के चिह्न पाये गये हैं। ईसा की पाँचवीं सदी में तक्षशिला और उसके आस पास के प्रान्त पर हूणों के धावे हुए थे। उन्होंने उस प्रान्त का विध्वंस—साधन किया था। बहुत सम्भव है, उन्होंने जलाकर इन इमारतों का नाश किया हो।

खोदने से इन खँडहरों में एक बहुत बड़े स्तूप का खण्डांश निकला है। छोटे छोटे स्तूप भी बहुत से निकले हैं। यहाँ, स्तूपों के पास, बौद्ध भिक्षुओं के रहने की जगह भी थी। एक विस्तृत विहार था, जिसमें पचास साठ भिक्षुओं के रहने के लिए अलग अलग कमरे थे। यह दो-मंज़िला था।

खोदने से, जौलियाँ में, बुद्ध और बोधिसत्वों की बहुत सी मूर्तियां मिली हैं। कई मूर्तियां अखण्डित हैं और बड़ी विशाल हैं। स्तूपों के चारों ओर, कई क़तारों में, मिट्टी और चूने के पलस्तर की और भी सैकड़ों मूर्तियां पाई गई हैं। वे बुद्ध, बोधिसत्वों, भिक्षुओं, उपासिकाओं, देवों और यक्षों आदि की हैं। इन सब की वेश-भूषा आदि देखकर उस समय के वस्त्राच्छादन और सामाजिक व्यवस्था का सच्चा हाल मालूम हो सकता है। पुरुषों के उष्णीष और अङ्ग-वस्त्र, स्त्रियों के सलूके और कर्ण-कुण्डल, तथा देवों और यक्षों के कुतूहल-जनक आकार-प्रकार और भावभंगियाँ बड़ी योग्यता से मूर्तियों में दिखाई गई हैं। उस समय के भारतवासियों ने जिन हूणों को म्लेच्छ-संज्ञा

ने रक्खी थी उनकी भी मूर्त्तियां मिली हैं। जिन धार्मिक बौद्धों ने अपने अपने नाम से स्तूप बनवाये थे उनके खुदवाये हुए, खरोष्ठी लिपि में, कई अभिलेख भी वहाँ मिले हैं। वे कुछ कुछ इस प्रकार के है—

"बुद्धरच्छितस भिक्षुस दनमुखो"

अर्थात् भिक्षु बुद्धरक्षित का दान किया हुआ।

पुरातत्वज्ञों का अनुमान था कि ३०० ईसवी में ही खरोष्ठी-लिपि का रवाज भारत से उठ गया था। पर यह बात इन अभिलेखों से ग़लत साबित हो गई, क्योंकि वे चौथी या पाँचवीं सदी के हैं। इससे ज्ञात हुआ कि और भी सौ दो सौ वर्ष तक इस लिपि का रवाज भारत के पश्चिमोत्तर भाग में था।

खोदने से यहाँ अनेक प्राचीन सिक्के, मिट्टी के बर्तन और तांबे के अरघे, चमचे, जंजीरें और कील-कांटे आदि निकले हैं। सोने की भी कुछ चीजें प्राप्त हुई हैं। मिट्टी के एक बर्तन के भीतर एक अधजली पुस्तक भी मिली है। वह भोज-पत्र पर लिखी हुई है। संस्कृत भाषा में है। बौद्धधर्म-विषय का कोई ग्रन्थ मालूम होता है। प्रायः वसन्त-तिलकवृत्त में है। खेद है, इसका एक पृष्ठ भी पूर्ण नहीं। स्तूपों में अस्थि-भस्म भी मिली है। मालूम होता है, कितने ही छोटे छोटे स्तूपों के भीतर अस्थि-भस्म रक्खी गई थी; क्योंकि रखने की जगह तो बनी हुई है, पर अस्थिगर्भ डिब्बे या बक्स नहीं मिले। वे या तो नष्ट हो गये या निकाल लिये गये। स्तूप नम्बर ११ में एक छतरीदार, ३ फुट ८ इंच

ऊँची, विचित्र बनावट की एक चीज मिली है। वह पलस्तर की है और स्तूपाकार है। उस पर नीला और सुर्ख रंग है। ऊपर कई प्रकार के पत्थर, जिनमें से कुछ रत्न-सदृश भी हैं, जड़े हुए हैं। जिस कोठरी के भीतर यह चीज मिली है वह साढ़े दस इंच चौकोर और २ फुट साढ़े आठ इंच ऊंची है। इस स्तूपाकार वस्तु के भीतर लकड़ी की एक छोटी सी डिबिया थी। वह सड़ी मिली। उसमें मूंगा, सुवर्ण, हाथी दाँत, बिल्लौर के मनके आदि थे। उसके भी भीतर धातु की एक छोटी सी डिबिया थी। उस डिबिया के भीतर एक और डिबिया थी। उसमें काली काली जरा सी राख थी। यह राख किसी की अस्थियों की अवशिष्ट भस्म के सिवा और क्या हो सकता है।

यदि भारत के प्राचीन खँडहरों की खुदाई के लिए गवर्नमेंट कुछ अधिक रुपया खर्च करती और यह काम कुछ अधिक भगाढ़े से होता तो दस ही पाँच सालों में अनेक खँडहर खुद जाते और उनसे निकली हुई वस्तुओं और इमारतों के आधार पर प्राचीन भारत का इतिहास लिखने में बहुत सुभीता होता। परन्तु, अभाग्य वश, वह दिन अभी दूर मालूम होता है।

[मार्च १९२३